5-6

न्दोग्योपनिषद् रहस्य



राजा बलदेवदास बिड़ला

ॐ तत्सत्

छान्दोग्योपनिषद् रहस्य



लेखक

राजा बलदेवदास बिड़ला

प्रकाशक

दि इण्डियन नेशनल पब्लिशर्स, लिमिटेड

१५९ बी, मछुआबाजार स्ट्रीट

कलकत्ता।

प्रथम संस्करण १०००] [सं० १९९३

छान्दोग्योपनिषद् रहस्य ।

—०—

सूची ।



छान्दोग्योपनिषत्

(मूल)

—०—

सूची।



भूमिका

सांसारिक उन्नतिकी दौड़में आर्यजाति इस समय चाहे जितनी पिछड़ गयी हो, परन्तु पारलौकिक उन्नति जो उसने अति प्राचीन कालमें कर ली थी, उसकी समता आज भी संसारमें सभ्यताके प्रचार करनेका दम भरनेवाली जातियां नहीं कर सकतीं। जातिकी इस ऊर्जितावस्थाका सारा श्रेय उन वैदिक ऋषियोंको है जो अपनी अनन्त ज्ञानराशि हमें वेदों और वेदान्तके रूपमें छोड़ गये हैं। वेदोंका निचोड़ वा शिरोभाग वेदान्त कहाता है और यह वेदान्त ब्रह्म-विद्याका प्रतिपादन करता है। इस ब्रह्म-विद्या वा वेदान्तके मूल आधार उपनिषत् नामसे प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वेदान्त शब्दमें ब्रह्म-विद्याका उपदेश करनेवाले सभी विषयोंका समावेश हो सकता है, तथापि श्री बादरायणाचार्य कृत वेदान्त वा ब्रह्म-सूत्रों, उपनिषदों और श्रीमद्भगवद्गीताको ही मुख्यकर वेदान्त नामसे पुकारते हैं। इन्हें प्रस्थान-त्रयी भी कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताकी संज्ञा भी उपनिषत् ही है। और

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्॥"

इस बचनके अनुसार गीता उपनिषदोंका सारमात्र है। ब्रह्म-सूत्र

स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये भी उपनिषदोंके ही सारभूत हैं। इनमें विशेषता केवल इतनी ही है कि उपनिषदोंमें जहां कहीं मतभेदसा दिखाई दिया है, वहां श्रीबादरायण व्यासने एक-वाक्यता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इस लिये उपनिषदोंको ही ब्रह्म-विद्याका मूल मानना उचित है।

वेदान्त वेदका ही अङ्ग है, केवल ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेके कारण वेदका अन्त या मथितार्थ अथवा निचोड़ बताया गया है। यों तो उपनिषदोंकी संख्या दो सौ बत्तीस बतायी जाती है, पर इनमें अकबरके समयकी बनी अल्लोपनिषत् तकका समावेश हो जाता है। साधारणतया १०८ उपनिषदें मानी जाती हैं, परन्तु इनमें भी सब प्राचीनसी ज्ञात नहीं होती हैं। मुख्य उपनिषदें १० ही हैं, और ये सब वेदोंकी अङ्गभूत हैं। उक्त १० उपनिषदें ये हैं :—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। ऐतरेय ऋग्वेदकी, तैत्तिरीय और कठ कृष्ण-यजुर्वेदकी, ईश और बृहदारण्यक शुक्ल यजुर्वेदकी केन और छान्दोग्य सामवेदकी तथा प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य अथर्ववेदकी उपनिषदें हैं। ईशोपनिषत् संहिताके अन्तर्गत शेष नवोपनिषत् ब्राह्मणोंके अन्तर्गत हैं। उपनिषत्का अर्थ है, "उपनिषद्यते—प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया, इति उपनिषत्" अर्थात् जिससे ब्रह्म-विद्या प्राप्त हो वह उपनिषत् है। दूसरा अर्थ यह है "उप—नितरां सादयति—अविद्यां विनाशयतीत्युपनिषत्" अर्थात् ब्रह्मके समीप पहुंचनेके लिये अविद्या रूपी अन्धकार जो नाश करे

वह उपनिषत् है। इन दोनों अर्थोंमें शब्दोंके सिवा भावमें अन्तर नहीं है।

ऊपर जिन उपनिषदोंका नामोल्लेख हुआ है, उनमें ईश, केन और कठ उपनिषदोंमें सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका और प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीयमें पंचभूतों यथा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों पर विचार किया गया है। छान्दोग्यमें प्राणविद्या और आदित्य-विज्ञानका प्रधानतया विवरण है। प्रश्नोपनिषद् आदिमें आदित्यको प्राण और चन्द्रको रयि कहा गया है। अर्थात् आदित्य भोक्ता और चन्द्र भोग्य कहा गया है। पृथ्वी आदि मूर्त्तिमान् पदार्थ चन्द्ररूप भोग्य हैं। वायु और तेज आदित्य हैं। भोक्ता तीन लोकोंको उत्पन्न, पालन और संहार करता है। ये ही भोक्ता और भोग्य सांख्य शास्त्रकी पुरुष-प्रकृति बन कर विश्वका सृजन करते हैं। प्राणरूप सूर्य प्रत्येक शरीरकी प्रत्येक इन्द्रियमें अपनी किरणोंद्वारा प्रवेश कर प्रकाश और शक्ति प्रदान करता तथा उत्तर पूर्व आदि दिशाओं और ईशानादि कोणोंमें प्रवेश कर उनको प्रकाशवान् बनाता है। इसलिये वही व्यापक और सब प्राणियोंका आश्रयस्थान है। सूर्य ही समस्त विश्वका आश्रय-स्थल है, प्रकाशक है और रक्षक है; इसलिये इसे ही विद्वानोंने विश्वरूप, जातवेदस्, परायण और सहस्र-रश्मि आदि कहा है। भूः, भुवः, स्वः ये तीनों लोक सूर्यसे प्रकाशित हैं और महः, जनः, तपः, और सत्यं स्वयं प्रकाशवान् हैं।

सूर्य ही काल है, काल ही प्रजापति है और प्रजापति ही संवत्सर है। संवत्सर या वर्षके दो भाग हैं—एक दक्षिणायन और दूसरा उत्तरायण। प्रथममें सूर्य दक्षिणकी ओर, दूसरेमें उत्तरकी ओर रहता है। श्रौत-स्मार्त्त कर्म्म करनेवाले और इष्टापूर्त आदि यज्ञ करनेवाले पुरुष चन्द्रमाको प्राप्त करते और दक्षिणायन मार्गसे जाते हैं। इसीका नाम पितृमार्ग भी है। तपस्वी, ब्रह्मचारी वेद-गुरु-भक्त और सूर्य्योपासक पुरुष सूर्यलोकको प्राप्त करते और उनकी गति उत्तरायण मार्गसे है। चन्द्रलोक या स्वर्ग-लोकके जीवका पुनरागमन होता है; परन्तु सूर्यलोक-प्राप्त जीवका पुनरागमन नहीं होता। मासमें जो दो पक्ष हैं, उनमें कृष्ण पक्ष चन्द्रमा है और शुक्ल पक्ष सूर्य है। कृष्ण पक्ष रयि और शुक्ल पक्ष प्राण है। विद्वान् लोग प्राणरूप सूर्यकी ही उपासना करते हैं। फलतः प्राण ही जगत्का एक मात्र आश्रय स्थल है। इसलिये छान्दोग्योपनिषद्ने प्रधानतया प्राणविद्याकी ही विवेचना की है।

गायत्री, त्रिष्टुप्, उष्णिक्, बृहती आदि छन्दोंमें वेद मन्त्रोंके निबद्ध होनेसे वेदोंको छन्दस् भी कहते हैं और वेदोंके गाने वालोंका नाम छन्दोग है तथा छन्दोगोंका धर्म-सम्बन्धी जो शास्त्र है उसका नाम छान्दोग्य है। यद्यपि छान्दोग्य शब्दका उपर्युक्त अर्थ है, किन्तु आजकल केवल सामवेदियोंमें ही छन्दोग शब्द और इस उपनिषत्में ही छान्दोग्य शब्द रूढ़िसा हो गया है; इस लिये सामग ही छन्दोग और यह उपनिषत् ही छान्दोग्य कही

जाती है। यह उपनिषत् सामवेदके सुप्रसिद्ध, 'ताण्ड्य' ब्राह्मणसे निकली है, जैसा इस श्लोकसे सिद्ध होता है :—

छान्दोग्योपनिषच्छ्रेष्ठा, तांड्यब्राह्मणनिःसृता।
अष्टौ प्रपाठकाः खण्डाः समुद्रभूतभूयुताः॥

अर्थात् उपनिषदोंमें श्रेष्ठ छान्दोग्योपनिषत तांड्य ब्राह्मणसे निकली है। इसमें आठ प्रपाठक या अध्याय, और १५४ खण्ड हैं।

"उपनिषदोंमें" चार विषयोंका विशेष विवेचन है—आत्मव्यापकता, देहान्तर ग्रहण, सृष्टितत्त्व, लयरहस्य। किन्तु ब्रह्मविद्याके उपदेशसे ये चारो ओतप्रोत हैं। एक प्रकारसे ब्रह्मात्मैक्य मूल है। और ये चारो विषय उसकी शाखाएं हैं। "सत्यं ज्ञान—मनन्तं ब्रह्म" "अहं ब्रह्मास्मि" "एकमेवाद्वितीयम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" आदि महावाक्योंको छोड़ भी दिया जाय तो भी उपनिषदोंमें कदाचित् हो कोई ऐसा प्रपाठक, खण्ड वा अनुवाक मिलेगा जिसमें परब्रह्मकी महिमाका आभास न मिलता हो। इसीसे उपनिषत्का एक नाम "ब्रह्म विद्या" भी है और उपनिषदोंको ही वेदान्त कहते हैं।

उपनिषदोंकी महत्ताका अनुमान तभी लग सकता है, जब सभ्य संसारकी भाषाओंका ज्ञान हो और मनुष्य यह जाने कि वे कहां किस रूपमें विराज रहो हैं। शाहजहांके बेटे दाराने इन उपनिषदोंका फारसीमें उल्था कराया था। पहले भी उल्थे फारसीमें हो चुके थे जिनके आधार पर मौलाना रूमने अपनी मस्नवी रची थी, जो तसव्वुफ वा सूफी सम्प्रदायका प्रसिद्ध ग्रन्थ फारसी भाषामें समझा

जाता है। तसव्वुफ और कुछ नहीं हमारा वेदान्त ही है। फारसीसे ग्रीक और लैटिन भाषाओं द्वारा उपनिषदोंका ज्ञान युरोप पहुंचा और यह प्रसिद्ध है कि जर्मनीके प्रख्यात प्रोफेसर शोपनेहर इन उपनिषदोंका अध्ययन कर ऐसे मुग्ध हुए कि उन्होंने यहां तक कह डाला कि यह (उपनिषद्) मुझे ज़ीवनकालमें सांत्वना देती रही है और मरने पर भी सांत्वना देगी। इससे सिद्ध है कि आर्यजातिका मस्तक संसारमें ऊंचा रखनेमें वेद सदा समर्थ रहेंगे।

अधिकारी विद्वानों—विशेषतः श्री काशीधामके प्रसिद्ध विद्वानों की संगतिके कारण कुछ अद्भुत और अमूल्य उपदेश सुननेका सौभाग्य मुझे बहुत दिनोंसे प्राप्त है। इनके अमृतोपम उपदेश सुन सुन कर जब तब चित्तमें यह अभिलाषा होती थी कि यदि सरलार्थ सहित कुछ मन्त्रोंका प्रकाशन हो जाय तो समाजका बड़ा कल्याण हो सकता है। इसी विचारका यह फल है कि आज यह पुस्तिका आपके हाथमें आयी है। पाठकोंको इसके पढ़नेसे ज्ञात होगा कि इसमें उच्च और महत्त्वपूर्ण विभिन्न मन्त्रोंका संग्रह है, जो छान्दोग्योपनिषत्से लिये गये हैं तथा जिनमें प्रसंगवश प्राण-विद्या, संवर्ग-विद्या, उपकोसल-विद्या, मधु-विद्या, वैश्वानर-विद्या आदि कितनी ही ज्ञानदायिनी तथा शक्ति-प्रद विद्याओंका विवेचन है। मूल-मन्त्रके नीचे सान्वय पदार्थ तथा अन्वयानुकूल हिन्दी सरलार्थ देनेकी चेष्टा की गयी है और बहुत ही संक्षेपमें कहीं एक और कहीं अनेक मन्त्रोंका भावार्थ दे दिया गया है। छान्दोग्योपनिषत पर एकसे एक बढ़कर भाष्य और

टीकाएं उपस्थित हैं। ऐसी दशामें यदि इस संग्रहसे किसी एक व्यक्तिका भी कुछ उपकार हुआ तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूंगा।

इस कार्यमें मुझे व्याकरणाचार्य पण्डित माधवशास्त्री दाक्षिणात्य तथा शास्त्राचार्य पण्डित राजनारायण शर्मा आदि विद्वानोंसे यथेष्ट सहायता मिली है और काशीके निम्नलिखित प्रतिष्ठित विद्वानोंने अपना मत इस पुस्तकके विषयमें इस प्रकार दिया है:—

श्रीमान् राजा बलदेवदासजी बिड़लाका छान्दोग्योपनिषत्-सम्बन्धी यह मनन उपासनाके उपयोगी और शास्त्रानुकूल है। इस विषयमें हम सब लोग सम्मत हैं:—

१ महामहोपाध्याय वामाचरण भट्टाचार्य, न्याय प्रोफेसर, संस्कृत कालेज, बनारस।

२ महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्तशास्त्री अग्निहोत्री, प्रिन्सिपल, धर्म्म-विज्ञान विभाग, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस।

३ महामहोपाध्याय पण्डित जयदेवमिश्रजी व्याकरण प्रोफेसर, हिन्दू यूनिवर्सिटी. बनारस।

५ पण्डित अम्बादास शास्त्री, न्याय प्रोफेसर, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस।

५ पण्डित काशीनाथ शास्त्री वेदान्त अध्यापक, काशी।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी सं० १९८२
श्रीक्षेत्र काशी। } बलदेवदास बिड़ला।

ओं तत्सत्।

श्रीगणेशाय नमः।

छान्दोग्योपनिषद् रहस्य।



मंगलाचरण।

ओं आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुश्श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

सान्वय पदार्थ

मम (मेरे) वाक् (वचन) प्राणः (प्राण) चक्षुः (नेत्र) श्रोत्रम् (कर्ण) अङ्गानि (अङ्ग) अथो (और) बलम् (बल) च (तथा) सर्वाणि (सब) इन्द्रियाणि (इन्द्रियां) आप्यायन्तु (कल्याणमय हों) सर्वम् (सब संसार) औपनिषदम् (उपनिषदोंमें कहा हुआ) ब्रह्म (ब्रह्म-स्वरूप ही है) अहम् (मैं) ब्रह्म (ब्रह्मकी) मा निराकुर्याम् (अवहेलना न करूं) जिससे मा (मेरो भी) ब्रह्म (ब्रह्म) मा निराकरोत् (अवहेलना न करे) अनिराकरणमस्तु (अवहेलना या निरादरके भाव उत्पन्न न हों) मे (मेरा) अनिराकरणमस्तु (इस तरह तिरस्कार न हो) तदात्मनि (उस सर्वव्यापक ब्रह्ममें)

निरते (लीन होने पर) ये (जितने) उपनिषत्सु (उपनिषदोंमें कहे गये) धर्माः (धर्म्म हैं) ते मयि सन्तु (वे मुझमें आ जावें) ते मयि सन्तु (और वे मुझमें अवश्य आ जावें)

सरलार्थ ।

मेरी वाणी, प्राण, नेत्र और कान आदि अङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियां और मेरा बल ये सब कल्याणमय हों, क्योंकि सब संसार उपनिषदोंमें कहा हुआ ब्रह्मस्वरूप ही है। मैं उस ब्रह्म (परमात्मा) का निरादर अर्थात् त्याग न करूं (उसे न छोड़ूं) जिससे (वह) ब्रह्म भी मेरा त्याग न करे। इस प्रकार अवहेलना या तिरस्कारके भाव उत्पन्न न हों और मेरा तिरस्कार न हो। वह मुझे न छोड़ें, सदैव उस सर्व्व-व्यापक ब्रह्ममें लीन होने पर उपनिषदोंमें बताये हुए जितने उत्तम उत्तम विचार हैं, वे मेरे हृदयमें अवश्य विराजमान हों।

भावार्थ ।

हे परमात्मन् ! मेरी सब इन्द्रियां और अङ्ग कल्याणमय हों, जिससे मैं उपनिषदोंमें उपदिष्ट और घट घटमें व्यापक उस परमात्माकी अवहेलना न कर सकूं, क्योंकि यदि मैं किसीकी अवहेलना करूंगा तो परमन्यायी परमात्मा भी मेरी अवहेलना करेगा। इसलिये यदि मेरे हृदयसे समस्तके प्रति निरादरके भाव निकल जायं तो परमात्मा भी मुझे शरणमें ले ले। इस प्रकार इस परमात्म भावमें निरत होने पर उपनिषदों में कहे हुए सभी धर्म मुझमें आ जायं। शान्तिः ३।

अथ प्रथम अध्याय।

—:o:—

सृष्टिके आदिमें प्राणियोंके अदृष्टसे ईश्वरमें स्फुरणरूपी (माया-वृत्ति) ईक्षण उत्पन्न होता है। "तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयं" इत्यादि मन्त्रों आकाशादि क्रमसे उपनिषदोंमें सृष्टि दिखायो है। इस स्फुरणका जो शब्द है वही ओम् कहा जाता है। आगे वही आकाशादिकोंमें शब्द रूपसे फैलता है। वही ओम् सत्त्व, रज, तम आत्मक आकाशादि पदार्थोंके साथ तादात्म्यापन्न होनेसे त्रिगुण कहा गया है। सांख्याचार्य्यके मतसे प्रकृति महत्तत्व और अहङ्कार (अथवा समविषमभावापन्न सत्त्व, रज, तम) और पञ्च-तन्मात्रा इसी अष्टविध प्रकृतिसे सृष्टि वर्णन किया है। वेदान्त तथा सांख्यके मतसे निर्दिष्ट तीन गुण और पञ्चतन्मात्राओंका (पञ्च-महाभूत) स्थूल परिणाम होकर द्युलोक. अन्तरिक्षलोक, अन्तिम भूलोक इस क्रमसे उत्तरोत्तर स्थूल रूपसे परिणाम हुआ है। यह अन्तिम पृथ्वी प्राणी और जड़मात्रको उत्पत्ति, स्थिति, लयका कारणीभूत (प्रकृति, या सामान्य) होनेसे 'एष भूतानां पृथिवी रसः' इत्यादि मन्त्रसे वर्णित है तथा नाम—रूपात्मक इस संसारमें स्फुरणके शब्दका परम्परया जो अष्टम परिणाम है वही पृथिवीके साथ नित्य सम्बद्ध ओम् कहा जाता है। इसी लिये वह सर्वश्रेष्ठ होनेसे और शब्दात्मक होनेसे परमात्माका संनिहित और प्रियतम प्रतीक होता है अतः उसकी उपासना छान्दोग्योपनिषत्का प्रथम मन्त्र कहता है।

१ और २ मन्त्र ।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति । तस्योपव्याख्यानम् । (अ० १ खं० १ मं० १) । एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः, अपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग्रसः, वाच ऋग् रसः, ऋचः साम रसः,साम्न उद्गीथो रसः (अ० १ खं० १ मं० २) ।

सान्वय अर्थ ।

उद्गीथम् (उद्गीथ भागका अवयव) ॐ इति (ॐ इस) अक्षरम् (अ-क्षरको) उपासीत (उपासना करे) हि (कारण) ओमिति (ओम् इस अक्षरसे ही) उद्गायति (सामगानका प्रारम्भ होता है) तस्य (ओंकारका) उपव्याख्यानम् (उपासन, महत्त्व, फल इत्यादिका कथन) प्रवर्तते (प्रारम्भ होता है) एषां (इन) भूतानाम् (चराचरोंका) पृथिवी (भूमि) रसः (निधान है) । पृथिव्याः (भूमिका) आपः (जल) रसः (उपष्टम्भक है) अपाम् (जलका) ओषधयः (अन्न) रसः (सार है) ओषधीनाम् (अन्नोंका) पुरुषः (प्राणियोंका शरीर) रसः (सार है) पुरुषस्य (शरीरका) वाक् (वाणी) रसः (सार है) वाचः (वाणीका) ऋक् (मन्त्र) रसः (सार है) ऋचः (मन्त्रोंका साम (गायन) रसः (सार है) साम्नः (गायनका) उद्गीथः (ओंकार) रसः (सार है) ।

सरलार्थ ।

उद्गीथरूप ओम् इस अक्षरकी उपासना करनी चाहिये । ओंकारहीसे गान प्रारम्भ होता है इस लिये उसको उद्गीथ

कहते हैं। पृथिवी यह चराचरका सार है। पृथिवीका अवष्टम्भ जल है, जलका सार अन्न है, अन्नका सार पुरुष है, पुरुषका सार वाणी और वाणीका सार मन्त्र, मन्त्रका सार साम तथा सामका सार ओंकार है। यह सबसे श्रेष्ठ सार है इस लिये इसीकी उपासना करना न्याय्य है।

३ मन्त्र ।

तद्वा एतन्मिथुनं यद् वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ।
(१।१।५)।

सान्वय अर्थ ।

तत् (वह) वा (निश्चय) एतत् (आगे कहा जानेवाला) मिथुनम् (पैदा करनेवाली जोड़ी) यद् (जो) वाक् (वाणी) च (और) प्राणः (प्राण) च (और) ऋक् (मन्त्रोंका कारण) च (और) साम (सामका कारण) च (क्रमशः)

सरलार्थ ।

इस ओंकारकी माता-पिताके तुल्य उत्पन्न करनेवाली जोड़ी वाक् और प्राण है, जो वाक् मंत्रको और प्राण सामको उत्पन्न करनेवाले हैं।

भावार्थ ।

ओंकार वाक् और प्राणवायुके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है इस लिये ओंकारकी माता वाक् समझी गयी इस लिये कर्मेन्द्रियोंमें वाक् श्रेष्ठ है। और प्राणके पिताके स्थानमें होनेसे शरीर-भरमें उसका श्रेष्ठ होना उचित ही है। तथा ओंकार हीसे सब सृष्टि होती है यह दिखलानेवाला आगेका मन्त्र है।

४ मन्त्र ।

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंस त्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन। (१।१।६)।

सान्वय अर्थ ।

तेन (उस प्रणवसे) इयम् (यह) त्रयो (वेदत्रयो) विद्या (अर्थज्ञानसाध्य अनुष्ठान) वर्तते (चलता है) ओमिति (ओंकारको उच्चारण कर) आश्रावयति (प्रैष देते हैं) ओमिति (ओम् इसी शब्दसे) शंसति (शास्त्र पढ़ते हैं) ओमिति (ओम् इस शब्दसे ही) उद्गायति (साम पढ़ते हैं) एतस्य (इस) एव (निश्चय) अक्षरस्य (अक्षरके) अपचित्यै (पूजा करनेके लिए महिम्ना (महत्वसे) रसेन (रससे) ।

सरलार्थ ।

इसी प्रणवसे वेदोक्त यज्ञ यागादि चलते हैं। यज्ञमें प्रैष, शस्त्र, स्तोत्र इसीसे चलते हैं किंवहुना सब व्यवहार इसीके पूजनार्थ इसीके महत्वसे और इसीके रससे होते हैं।

भावार्थ ।

सब यज्ञ यागादि ओंकार हीसे किये जाते हैं। क्योंकि जितने मन्त्र और अन्यवाणी हैं सब ओंकारका स्वरूप हैं। और सब यज्ञादि ओंकार ही के पूजनके लिये हैं क्योंकि परमात्मा और ओंकारका अभेद है। तथा यज्ञ करके आदित्य द्वारा वृष्टि होकर क्रमशः ऋत्विक् आदिके प्राण बनते हैं, उससे मन्त्र कहना और क्रिया अनुष्ठानका सामर्थ्य बनता है तथा अन्न बननेसे पुरोडाश

भी कर सकते हैं। एवंच प्रणवकी महिमासे प्रणवके रससे और प्रणव होके पूजनार्थं यज्ञ होते हैं। लोक व्यवहारमें भी प्राण-वायुके सामर्थ्यवाला मनुष्य असंख्य जनतामें निर्दोष और पूर्ण प्रभावशाली सबका समाधान कारक रसमय भाषण करके अभीष्ट वस्तु जनता और अपने लिये सम्पादन कर अधिक बल-वान् और अधिक वक्ता बनता है, इससे उसकी सत्कीर्ति सर्वत्र गायी जाती है, यह सब ओंकार ही का साध्य साधन रूप परि-णाम समझना चाहिये।

मानव-शरीरमें पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां हैं। साङ्ख्याचार्य आदिके मतसे मन भी एक इन्द्रिय है, जो ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा जाता है। इन सबका राजा प्राण माना गया है; क्योंकि इन इन्द्रियोंमें किसी एक दो के न रहनेपर भी जीवन रह सकता है, जैसे अन्धे, गूंगे, बहरे, लूले, लंगड़े भी जीते हैं; परन्तु प्राणके अभावमें एक क्षण भी मनुष्य जी नहीं सकता। इसीलिये उपनिषदोंमें प्राण जीवनका हेतु कहा गया है। कहीं कहीं यह आत्मा और कहीं ब्रह्म तक कहा गया है। अधिष्ठानत्व सिद्ध करनेके कारण इसे आत्मा और सूत्रात्म-रूपसे ब्रह्माण्डकी रक्षा करनेके कारण यह ब्रह्म भी कहा गया है। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है; क्योंकि प्राण विशुद्ध सात्त्विक है। इसलिये यह ब्रह्म-ज्ञानका उत्पादक और आत्मोन्नतिमें पूरा सहायक है। प्राणके इसी महत्त्वको समझकर देवोंने प्राणदृष्टिसे "उद्गीथ" की उपासना की। यह "उद्गीथ" इसलिये कहा गया है कि

यह 'उत्' अर्थात् स्वर्गलोकमें संचरण करनेवाला, 'गी' अर्थात् अन्तरिक्ष लोकमें विचरण करनेवाला, और 'थ' अर्थात् मर्त्य-लोकमें भ्रमण करनेवाला है। प्राण ही वायु है। वह स्वर्ग तथा अन्तरिक्षमें और पृथिवीपर बाहरी हवाके रूपमें घूमता है, पर मनुष्यके शरीरमें वह पञ्च प्राणके रूपमें रहता है। पूरक, कुम्भक और रेचक आदिके द्वारा शरीरके भीतरकी हवाका तीन प्रकारकी बाहरी हवाके साथ उपासनामें सम्बन्ध किया जाता है। इस विषयका निम्नलिखित मन्त्र देखिये:—

५ मन्त्र।

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत। (१।२।७)।

सान्वय पदार्थ।

अथ (अनन्तर) ह (प्रसिद्ध) यः (जो) एव (ही) अयम् (यह) मुख्यः (श्रेष्ठ) प्राणः (प्राण है) तम् (उसे) उद्गीथम् (ब्रह्म समझ कर) उपासाञ्चक्रिरे (उपासना की) तम् (उसे) ऋत्वा (पाकर) ह (प्रख्यात) असुरा (दानव) वैसे ही विदध्वंसुः (छिन्न भिन्न हो गये) यथा (जैसे) आखणम् (अभेद्य) अश्मानम् (पत्थरको) ऋत्वा (पाकर) विध्वंसेत (मिट्टीका पिण्ड छिन्न भिन्न हो जाय)

सरलार्थ।

पश्चात् यह जो प्रसिद्ध और श्रेष्ठ प्राण है, उसे ब्रह्म ही समझकर देवोंने उपासना की; और उसे पाकर असुर वा

आसुरी वृत्तियां इस प्रकार छिन्न भिन्न हो गयीं, जैसे अभेद्य पाषाणको पाकर मिट्टीका पिण्ड छिन्न भिन्न हो जाता है।

भावार्थ।

छान्दोग्योपनिषत्के इस मन्त्रके पहले तीन चार मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें नेत्र, श्रोत्र, नासिका और मनके अधिष्ठातृ देवताकी दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करनेमें दुःखोत्पादकत्व बताया गया है। इसका कारण यह लिखा है कि नेत्र, श्रोत्र, नासिका और मन द्वारा भलो और बुरी—दोनो तरहकी वस्तुएं देखी, सुनी, सूंघी और सङ्कल्प की जाती हैं। इसलिये इनके अधिष्ठातृ देवताको दृष्टिसे उपासनामें असुर या असद्भाव विघ्न डालते हैं। किन्तु, मुख्य प्राणमें यह बात नहीं है; क्योंकि वह तीनो लोकोंमें विचरण करनेके कारण शुद्ध—सात्त्विक है; और पिण्ड-ब्रह्माण्ड दोनोंकी रक्षा करनेवाला है। इसीलिये देवों वा महा-पुरुषोंने इसीको प्रतीक मान कर उपासना की; और उपासनामें असुर या असद्भाव कोई विघ्न न डाल सके।

प्राणकी महिमा अगले तीन मन्त्रोंमें दिखायी गयी है।

६ मन्त्र।

तं हांगिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवाऽङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः। (१।२।१०)।

सान्वय पदार्थ।

तम् (उस) ह (प्रसिद्ध प्राणको) अङ्गिराः (अङ्गिराने) उद्गीथम् (त्रिलोकमें सञ्चरणशील व्यापक मानकर) उपासा-

श्चक्रे (उपासना की) एतम् उ (इसको) एव (ही) आङ्गिरसम् (अङ्गिरा) मन्यन्ते (मानते हैं) अङ्गानाम् (अङ्गोंमें यद् (जो) रसः (रस)।

सरलार्थ।

उसी पूर्वोक्त प्रसिद्ध प्राणको उद्गीथ अर्थात् व्यापक ब्रह्म मानकर अङ्गिरा नामक ऋषिने उसकी उपासना की। प्राणियोंके अङ्गोंमें जो रस बनाकर पहुंचाता है, उसे ही अङ्गिरा कहते हैं।

७ मन्त्र।

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः। (१।२।११)।

सान्वय पदार्थ

तेन (इस हेतु) तम् (उस) ह (प्रसिद्ध प्राणको) बृहस्पतिः (बृहस्पतिने) उद्गीथम् (उद्गीथ मानकर) उपासाञ्चक्रे (उपासना की) एतम् उ एव (इसीको) बृहस्पतिम् (बृहस्पति) मन्यन्ते (मानते हैं) हि (कारण) वाक् (वचन रूप जो) बृहती (वाणी है) तस्याः (उसका) पतिः (स्वामी है)।

सरलार्थ।

इसी लिये उस प्रसिद्ध प्राणको ही उद्गीथ (ब्रह्म) मानकर बृहस्पति ऋषिने उसकी उपासना की। वाणीका नाम बृहती अर्थात् ज्ञान है और उसका स्वामी यह प्राण है, इसलिये उसी प्राणको विद्वान् लोग बृहस्पति कहते हैं।

८ मन्त्र ।

तेन तं ह्यायास्य उदगीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्ते आस्याद्यदयते । (१ । २ । १२) ।

सान्वय पदार्थ ।

तेन (उसी हेतु) तम् (उसी) (प्रसिद्ध) आयास्यः (आयास्यने) उद्गीथम् (उद्गीथ मान) उपासाञ्चक्रे (उपासना को) एतम् एव हि (इसीको) आयास्यम् (आयास्य) मन्यन्ते (मानते हैं) यत् (क्योंकि) आस्यात् (इन्द्रियरूप द्वारोंसे) अयते (सञ्चरण करता है) ।

सरलार्थ ।

और इसीलिये उस प्रसिद्ध प्राणको ब्रह्म स्वरूप मानकर आयास्य नामक ऋषिने उसकी उपासना की । उसीको विद्वज्जन आयास्य कहते हैं ; कारण, इन्द्रियरूप द्वारोंसे संचरण करता है ।

भावार्थ ।

प्राण ही अङ्गोंमें रस पहुंचानेके कारण अङ्गिरा, ज्ञान उत्पन्न करनेके कारण बृहस्पति, और शरीरमें संचरण करनेके कारण आयास्य है ।

अब अगले मन्त्रमें यह बताया जाता है कि वाक्‌का कारण प्राण ही है । प्राण इसलिये कारण है कि उसकी और अपानकी सन्धि-रूप जो व्यान है, उसकी सहायताके विना वाक्‌का उच्चारण ही नहीं हो सकता ।

६ मन्त्र ।

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन् वाचमभिव्याहरति । (१।३।३)।

सान्वय पदार्थ ।

अथ खलु (अब) व्यानमेव (व्यान वायुको ही) उद्गीथम् (उद्गीथ मानकर) उपासीत (उपासना करे) यद्वै (जिस वायुको) प्राणिति (मनुष्य बाहर निकालता है) स प्राणः (वह प्राण है) यत् अपानिति (जिसे भीतर खींचता है) स अपानः (वह अपान है) अथ (और) यः (जो) प्राणापानयोः (प्राण और अपान वायुओं का) सन्धिः (मिलानेवाला है) सः व्यानः (वह व्यान है) यो व्यानः (जो व्यान है) सा वाक् (वही वाणी है) तस्मात् (इस कारण) अप्राणन् अनपानन् (प्राण और अपान वायुओंके व्यापारको न करता हुआ भी मनुष्य) वाचम् (वचन) अभिव्याहरति (बोलता है)।

सरलार्थ ।

व्यान वायुको ही व्यापकब्रह्म मानकर उसकी उपासना करे। जो वायु मुख और नासिकाके द्वारा बाहर निकाला जाता है, उसे प्राण कहते हैं और जो वायु नासिका और मुखके द्वारा भीतर तो खींच लिया जाता है, किन्तु फिर बाहर नहीं निकलता, वही अपान है। प्राण और अपानकी

सन्धि अर्थात् मेल करानेवाले वायुका ही नाम व्यान है। उसीको वाणी भी कहते हैं। अतः मनुष्य प्राण और अपानका प्रयो रके भी वचनका उच्चारण करता है।

भावार्थ।

मन्त्रमें यह बताया गया है कि प्राण और अपान वायुकी सहायताके विना केवल व्यानकी ही सहायतासे वाणीका उच्चारण होता है; इसलिये व्यान ही वाणी कहा गया है। व्यानको कारण, और वाणीको कार्य कहना मन्त्रका अभिप्राय है। और व्यानको जो वाणी कहा गया है, उसका तात्पर्य कार्यकारणकी अभेद-विवक्षा भर है

अब प्राणकी उद्गीथ रूपसे महिमा देखिये।

१० मन्त्र।

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवो-त्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचोह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ये हीदं सर्वं स्थितम्। (१।३।६)।

सान्वय पदार्थ।

अथ खलु (उद्गीथकी उपासनाके अनन्तर) उद्गीथाक्षराणि (उद्गीथ शब्दमें जो अक्षर हैं उनकी) उपासीत (उपासना करे) उद्+गी+थ इति (उद् गी और थ ये तीन अक्षर उद्गीथ शब्द में हैं) प्राण एव उत् (प्राण ही उत् है) हि (क्योंकि) प्राणेन (प्राणसे) उत्तिष्ठति (जगत् उठता है) वाग् गीः (वाक् ही गी है) हि (क्योंकि) वाचः (वचनोंको) गिरः (वाणी)

इति (ऐसा) आचक्षते (विद्वान् कहते हैं) अन्नम् थम् ("थ" अन्न है क्योंकि) अन्ने (अन्नमें ही) इदम् सर्वम् (यह सब स्थितम् (स्थित है) ।

सरलार्थ।

अब उद्गीथ शब्दके प्रत्येक अक्षरको समझें। इसमें उत्, गी और थ ये तीन अक्षर हैं। इनमें "उत्" यह प्राण वाचक है, इसलिये कि प्राणके ही द्वारा मनुष्य उठता है अर्थात् उत्थित होता है। वाक् अर्थात् वाणीका ही नाम "गी" है, क्योंकि विद्वानोंने वाक्हीको "गी" कहा है। थ अक्षर अन्नका बोधक है, इसलिये कि संपूर्ण प्राणियोंका समूह अन्नके ही आधार पर स्थित है। *

अब लोक-आदि दृष्टिसे प्राण-रूप उद्गीथकी महिमा देखिये।

११ मन्त्र।

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीर-ग्निस्थं सामवेद एवोद्यजुर्वेदोगीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग् दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथा-क्षराण्युपास्त उद्गीथ इति। (१।३।७)।

सान्वय पदार्थ।

द्यौः एव उत् (द्यु लोक ही उत् है) अन्तरिक्षम् (अन्त-रिक्ष ही) गीः (गी है) पृथिवी थम् (पृथिवी ही थ है) आदित्य

---

* मन्त्रमें "गी" शब्दसे तेज और "थ" शब्दसे पार्थिव जल विवक्षित है

एव उत् (आदित्य वा सूर्य्य ही उत् है) वायुः गीः (वायु गी है) अग्निःथम् (अग्नि थ है) सामवेद एव उत् (सामवेद उत्) यजुर्वेद गीः (यजुर्वेद गी और) ऋग्वेद थम् (ऋग्वेद थ है) वाग् (वाग्देवी) अस्मै (उस साधकके लिये) दोहम् (दूधको) दुग्ध (स्वयम् दुहती है) दोहः (अमृतमय दूध है) यः (जो कुछ भी) वाचः (वाग्देवताका) यः (जो साधक) उद्गीथाक्षराणि (उद्गीथके अक्षरोंको) एवम् विद्वान् (पूर्वोक्त रीतिसे जानता हुआ) उपास्ते (उपासना करता है वह) अन्नवान् (प्रचुर धनाढ्य और) अन्नादः (ऐश्वर्य भोग करनेवाला) भवति (होता है)।

सरलार्थ।

लोकोंमें द्यु लोक "उत्" है, क्योंकि सबसे ऊपर स्थित है और अन्तरिक्ष "गी" है, क्योंकि वाणी (या शब्द) का आधार अन्तरिक्ष वा आकाश है, और पृथिवी "थ" है, क्योंकि सब प्राणियोंके ठहरनेका स्थान पृथिवी है। देवताओंमें आदित्य "उत्" है, क्योंकि ऊपर रहता है; वायु "गी" है, क्योंकि, वायुके कारण वाणीका उच्चारण होता है, इसलिये कार्यकारण के अभेदसे वायु "गी" कहा गया। अग्नि "थ" है, क्योंकि यज्ञीय पदार्थ अग्निमें ही स्थापित किये जाते हैं। इसी प्रकार वेदोंमें सामवेद "उत्", यजुर्वेद "गी" और ऋग्वेदको "थ" कहते हैं। वाग्देवी उस दोग्धा साधकके अर्थ अपना ही दोहन करती है अर्थात् प्रकाश करती है। जिज्ञासुओंके लिये

वेदोंका तत्त्व ही अमृतमय दूध है। जो साधक पूर्वोक्त रीतिसे उद्गीथ शब्दके अक्षरोंको जानता हुआ उनकी उपासना करता है, वह धन धान्यादिसे ऐश्वर्य्यवान् होकर सम्पूर्ण ऐश्वर्य्यके भोगनेके लिये समर्थ होता है।

भावार्थ स्पष्ट है।

अब अगले मन्त्रमें उद्गीथकी महिमाके अनन्तर ओंकारके विभिन्न दिव्य भावोंकी उपासनाका रूप और फल देखिये।

१२ मन्त्र।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छंदोभिराछादयन्यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। (१।४।२)।

सान्वय पदार्थ।

देवाः (देवता लोग) वै (निश्चय) मृत्योः (मृत्युसे) बिभ्यतः (डरते हुए) त्रयीं विद्याम् (ऋक्, यजुः और साम वेदोंमें) प्राविशन् (पैठ गये) ते (उन्होंने) छन्दोभिः (कर्मकाण्डविधि या सकामोपासनासे) आच्छादयन् (ढँक लिया) यत् (जिस कारण) एभिः (इन छन्दोंसे देवताओंने) अच्छादयन् (आच्छादित किया) तत् (इसलिये) छन्दसाम् (छन्दोंका) छन्दस्त्वम् (छन्दपन है)

सरलार्थ।

देवता मृत्युसे भीत होते हुए ही वेदत्रय अर्थात् ऋक्, यजुः और सामवेदोंमें पैठ गये अर्थात् उनकी शरण ली और गायत्री आदि छन्दोंसे आच्छादित हुए अर्थात् वैदिक मन्त्रोंका

खूब मनन करने लगे। जिस कारणसे देव लोग इन छन्दोंसे आच्छादित हुए अर्थात् उनका मनन करने लगे, उसी कारण छन्दोंका छन्दस्त्व है; अर्थात् उन मन्त्रोंका नाम छन्दस् पड़नेका यही कारण है।

१३ मन्त्र।

तानु तत्र मृत्युर्यथामत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्य्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि तेनु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्। (१।४।३)।

सान्वय पदार्थ।

यथा (जैसे) मत्स्यम् (मछलीको) उदके (जलमें) परिपश्येत् (देख लिया जाता है) एवम् (वैसे ही) मृत्युः (मृत्युने) उ (निश्चय) तान् (उन देवोंको) तत्र (उस) ऋचि (ऋग्वेदमें) साम्नि (सामवेदमें) यजुषि (यजुर्वेदमें स्थित) पर्य्यपश्यत् (देखा) नु (तर्कवितर्कपूर्वक) ते (ये देव) वित्त्वा (मृत्युके इस व्यापारको जानकर) ऋचः (ऋग्वेद) साम्नः (सामवेद) यजुषः (यजुर्वेदसे) ऊर्द्धवम् (उपरिस्थित होकर) (स्वरमेव) (ओंकारमें ही) प्राविशन् (प्रविष्ट हुए)

सरलार्थ।

जिस प्रकार मछलीको जलमें धीवर देख लेता है, वैसे ही मृत्युने ऋक्, यजुः और साम इन वेदत्रयकी शरणमें अर्थात् सकाम कर्म्मपथमें आरूढ़ उन देवों अर्थात् विद्वानोंको देख लिया। फिर तर्क वितर्कके द्वारा उन देवोंने मृत्युके

व्यापारको समझकर ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदसे भी ऊपर स्थित प्रणव ओंकारकी शरण ली अर्थात् सकामोपासना छोड़ निष्काम कर्म्मके द्वारा ज्ञान मार्गका अवलम्बन किया ।

१४ मन्त्र ।

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवं सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् । (१ । ४ । ४) ।

सान्वय पदार्थ ।

यदा (जब) वै (निश्चय) ऋचम् (ऋग्वेदको) आप्नोति (प्राप्त करता है) ओम् इति एव (ओंकारका ही) अतिस्वरति (सादर उच्चारण करता है) एवम् (इसी प्रकार) साम (सामवेद) एवम् (ऐसे ही) यजुः (यजुर्वेदके भी पूर्व ओंकार उच्चारण होता है) एषः (यही ओंकार) उ (निश्चय) स्वरः (स्वर है) यत् (जो) एतत् (यह) अमृतम् (अमृत और) अभयम् (अभय ओंकार है) तत् (उस ओंकार रूप ब्रह्ममें) प्रविश्य (पैठकर) देवाः (देव लोग) अमृताः (अमृत और) अभयाः (अभय) अभवन् (हुए) ।

सरलार्थ ।

जब कोई ऋग्वेदको प्राप्त करता है तो निश्चयपूर्वक वह प्रणव ओंकारका ही सादर उच्चारण करता है । तात्पर्य्य यह कि ऋक्, यजुः और सामके मन्त्रोंके उच्चारणके पूर्व ॐ के उच्चारणकी विधि है, अतः बिना ॐ के उच्चारणके किस

मन्त्रके उच्चारणका फल नहीं होता। इसलिये उसीका उच्चारण पहले किया जाता है। इसी तरह सामवेद और यजुर्वेदके भी पूर्व स्वर वा "ओंकार" का उच्चारण होता है। निश्चय यही ओंकार स्वर है अर्थात् अविनाशी ब्रह्म है। यह जो अमृत है और अभय है, उस ब्रह्मको पाकर देवता लोग भी अमर और अभय हुए।

भावार्थ।

ओङ्कारमें दैवी और आसुर भाव हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ और सकाम उपासना आदि आसुरी भाव हैं। इनसे दुर्गति होती है। इनसे रहित होकर सात्त्विक भावसे जो उपासना की जाती है, वह दैवी कही जाती है जिससे पितृलोककी प्राप्ति होती है। किन्तु इनसे विलक्षण आत्म भावोंसे जो ओङ्कार ब्रह्मकी उपासना की जाती है, उससे देवयानकी प्राप्ति होती है।

अब अगले मन्त्रोंमें ओंकारकी महिमाका वर्णन करते हुए आदित्योपासनाका फल और स्वरूप वर्णन किया गया है।

१५ मन्त्र।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति। ह्येष स्वरन्नेति। (१।५।१)।

सान्वय पदार्थ।

अथ (अनन्तर) खलु (प्रसिद्ध) यः (जो) उद्गीथः (उद्गीथ है) सः (वह) प्रणवः (ओङ्कार है) यः (जो) प्रणवः (प्रणव है)

सः (वह) उद्गीथ (ओङ्कार है) एषः (यह) उद्गीथः (उद्गीथ) एषः (यह) प्रणवः (प्रणव) वै (निश्चय) असौ (यह) आदित्यः (अविनश्वर सूर्य है) हि (क्योंकि) एषः (यह सूर्य) ओमिति (ओङ्कारकी महिमाको) स्वरन् (भजता हुआ) एति (उदयको प्राप्त होता है)।

सरलार्थ।

जो (सामवेदियोंका) उद्गीथ है, वही ऋग्वेदियोंका प्रणव है; और जो इनका प्रणव है, वही छान्दोग्यमें उदगीथ है। यह उदगीथ और प्रणव आदित्य हैं अर्थात् अविनाशी ब्रह्म हैं; क्योंकि यह ॐ को भजता हुआ उदय होता है।

१६ मंत्र।

एतमु एवाहमभ्यगासिषम्। तस्मान्मम त्वमेकोसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम्। (१।५।२)।

सान्वय पदार्थ।

ह (प्रख्यात) कौषीतकिः (कुषीतक नामके ऋषिने) पुत्रम् (अपने पुत्रको) उवाच (कहा) एतम् एव (पूर्वोक्त आदित्यको) अहम् (मैंने) अभ्यगासिषम् (विधिवत् गाया था) तस्मात् (इस कारण) मम (मेरा) त्वम् (तू) एकः (एक ही पुत्र) असि (है) त्वम् (तू) रश्मीन् (सूर्यकी किरणोंको) पर्यावर्तयात् (सर्वत्र देख) ते (तेरे) वै (निश्चय) बहवः (बहुत पुत्र) भविष्यन्ति (होंगे) इति अधिदैवतम् (यह ओंकारके भजनसे देवताकी महिमाका वर्णन है, सो समाप्त हुआ।)

सरलार्थ।

कुषीतक नामके विख्यात ऋषिने अपने पुत्रसे यही कहा कि पुत्र! मैने विधिपूर्वक उसी ओंकार रूप आदित्यकी उपासना की थी; इस लिये तू मुझे एक पुत्र प्राप्त हुआ। अब तू सूर्यकी किरणोंकी उपासना कर ताकि तुझे अनेक पुत्र प्राप्त हों। तात्पर्य यह कि एक दृष्टिसे उपासनाका एक फल और अनेक दृष्टिसे उपासना करनेसे अनेक फल प्राप्त होते हैं। उन्हीं सूर्य्य-रश्मियोंको अर्थात् ब्रह्मकी शक्तिको भली भांति देख। ओंकारके भजनसे देवोंकी महिमाका यह वर्णन समाप्त हुआ।

१७ मंत्र।

अथाध्यात्मम् य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति। (१।५।३)।

सान्वय पदार्थ।

अथ (अनन्तर) अध्यात्मम् (प्राणोंमें ओं की सत्ताका व्याख्यान होता है।) यः (जो) एव (ही) अयम् (यह) मुख्यः (श्रेष्ठ) प्राणः (वायु है) तम् (उसमें) उद्गीथम् (उद्गीथको भावना करे) ओमिति (ओम् पदसे ही) स्वरन्नेति (कीर्त्ति प्रकाश करता हुआ जाता है)

सरलार्थ।

अब प्राणोंमें ओंकी सत्ताका व्याख्यान होता है। यह जो सर्व प्रधान प्राण है, उसीको उदगीथ समझे, क्योंकि यह प्राण ॐ पदसे ही वाक् प्रभृति इन्द्रियोंको प्रवर्तित करता है।

१८ मन्त्र।

एतमु एवाहमभ्यगासिषम् तस्मान्ममत्वमेकोसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। प्राणांस्त्वं भूमानमभिगायताद् वहवो वै मे भ वष्यन्तीति। (१।५।४)

सान्वय पदार्थ।

ह (प्रसिद्ध) कौषीतकिः (कुषोतक ऋषि) पुत्रम् (अपने पुत्रको) उवाच (बोले) एतम् उ एव (इसीको) अहम् (मैंने) अभ्यगासिषम् (अच्छी तरहसे गाया था या उपासना की थी) तस्मात् (इसलिये) मम (मेरा) त्वम् (तू) एकः (सुयोग्य पुत्र) असि (है) इति (यह) त्वम् (तू) भूमानम् (विशाल या व्यापक) प्राणान् (प्राणोंको) अभिगायाद् (अच्छी तरह गा) मम (मेरे) वहवः (अनेक पुत्र) भविष्यन्ति (होंगे)

सरलार्थ।

उस विख्यात कुषीतक ऋषिने अपने पुत्रको उपदेश दिया कि हे पुत्र! मैंने उसी सर्व श्रेष्ठ प्राण [ब्रह्म] की अच्छी तरह उपासना की है। तू मेरा सुयोग्य पुत्र है, इसलिये यह कामना करके कि मेरे भी अनेक सुयोग्य पुत्र होंगे, अतः उस व्यापक या अनेक शक्तिशाली प्राणकी भली भांति उपासना कर।

भावार्थ।

इन मन्त्रोंका संक्षेपमें तात्पर्य यह है कि आदित्य ही प्रणव, उद्गीथ और ओंकार है। इसकी जो एक दृष्टिसे उपासना करता है,

उसको एक फल अर्थात् आदित्यलोक मिलता है, और जो अनेक दृष्टियों तथा सकाम भावसे उपासना करता हैं, उसे नश्वर अनेक लोक प्राप्त होते हैं।

अब अगले मन्त्रोंमें सामके निगूढ़ रहस्य, विविध लोकोंका उपमा-मूलक और महिमा-परक विवरण तथा आध्यात्मिक तत्त्व समझाया गया है।

१९ मन्त्र।

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। इयमेव साग्निरमस्तत्साम। (१।६।१)।

सान्वय पदार्थ।

इयम् (यह पृथिवी) ऋग् (ऋग्वेद है) अग्निः (अग्नि) साम (सामवेद है) तत् (क्योंकि) एतत् (यह) साम (सामवेद) एतस्याम् (इस) ऋचि (ऋग्वेदमें) अध्यूढम् (अन्तर्लीन है) तस्मात् (इस कारण) ऋचि (ऋग्मन्त्रोंमें ही) अध्यूढम् (लगाकर) साम (सामस्वर विशेष गाया जाता है इसके अतिरिक्त साममें जो पहला) सा (सा प्रकाशक शब्द है उसका अर्थ) इयम् (यह पृथिवी ही है) अमः (अम् प्रकाश जो आधार है वह) अग्निः (अग्नि है) तत् (वह) साम (सामरूप है)।

सरलार्थ।

यह पृथिवी ही ऋग्वेद और अग्नि ही सामवेद है। पृथिवीमें अग्निके समान वही सामवेद ऋग्वेदमें अन्तर्लीन है, इसीलिये

ऋगूमन्त्र युक्त ही साम गाया जाता है। इसके अतिरिक्त साममें जो पहला अक्षर 'सा' है, उसका अर्थ पृथिवी और 'अम" का अर्थ अग्नि है। ये दोनों पद-सामरूप हैं। अर्थात् ये साम रूप हैं।

२० मंत्र।

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम। (१।६।२)।

सान्वय पदार्थ।

अन्तरिक्षम् एव (अन्तरिक्ष ही) ऋग् (ऋग्वेद है) वायुः (वायु) साम (सामवेद है) तत् एतत् (सो यह वायु रूप) साम (सामवेद) एतस्याम (अन्तरिक्ष रूप) ऋचि (ऋगूवेदमें) अध्यूढम् (अन्तर्गत है) तस्मात् (उस कारण) ऋचि अध्यूढम् (ऋग्मन्त्रोंमें ही) साम (सामस्वर) गीयते (गाया जाता है) सा (सा)अन्तरिक्षम् (अन्तरिक्ष है)अमः (अम) वायुः (वायु है) तत् (दोनो) साम (साम हैं)।

सरलार्थ।

अन्तरिक्ष ही ऋग्वेद और वायु सामवेद है; सो यह वायु सदृश सामवेद, अन्तरिक्षस्वरूप ऋग्वेदके अन्तर्गत है। इसलिये ऋगूमन्त्रोंके साथ ही सामवेद गाया जाता है। सा अन्तरिक्षके लिये और अम वायुके लिये है उन दोनोके योगसे साम पद होता है।

२१ मंत्र ।

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मा-दृच्यध्यूढं साम गीयते। द्यौरेव साऽऽदित्योऽमस्तत्साम । (१।६।३)।

सान्वय पदार्थ ।

द्यौः एव (द्यु लोक हो) ऋग् (ऋग्वेद है) आदित्यः (आदित्य) साम (सामवेद है) तत् (इसी कारण) एतत् (यह आदित्य समान) साम (सामस्वर) एतस्याम् (इस द्यु लोक के सदृश) ऋचि (ऋग्मन्त्रोंमें) अध्यूढम् (अन्तर्गत है) तस्मात् (इस कारण) ऋचि अध्यूढम् (ऋग्मन्त्रयुक्त) साम (सामस्वर) गीयते (गाया जाता है) द्यौः एव (द्यु लोक हो) आदित्यः (आदित्य है) सा (सा रूप है) अमः (अम शब्दका अर्थ) तत् (दोनो) साम (साम हैं)।

सरलार्थ ।

द्यु लोक ही ऋग्वेद और आदित्य ही सामवेद है। यह आदित्य समान सामवेद द्यु लोक नामक ऋग्वेदके अन्तर्गत है। इसलिये ऋग्मन्त्रोंके साथ ही सामवेद गाया जाता है। द्यु लोक ही "सा" स्वरूप है और 'अम' आदित्य स्वरूप; इन दोनोके मेलसे साम पद होता है।

२२ मन्त्र ।

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अम-स्तत्साम। (१।६।४)।

सान्वय पदार्थ ।

नक्षत्राणि एव (नक्षत्र ही) ऋग् (ऋग्वेद है) चन्द्रमाः (चन्द्रमा) साम (साम स्वरूप है) । तत् (इसी कारण) एतत् (यह चन्द्र समान) साम (सामस्वर) एतस्यां (इस नक्षत्र सदृश ऋग्वेदमें) अध्यूढम् (अन्तर्गत है) तस्मात् (इस कारण) ऋचि अध्यूढम् (ऋग्मंत्रयुक्त) साम (सामस्वर) गीयते (गाया जाता है) नक्षत्राणि एव (नक्षत्र ही) सा (सा रूप है) अमः (अम) चंद्रमाः (चंद्र) तत् (दोनों) साम (साम है) ।

सरलार्थ ।

नक्षत्र ही ऋग्वेद है, चन्द्रमा सामवेद है, चन्द्र समान सामवेद नक्षत्र सदृश ऋक्में प्रतिष्ठित है। इसी कारण ऋग्मंत्रोंके साथ साम गाया जाता है। नक्षत्र ही 'सा' रूप, और चन्द्रमा 'अम' है। इन दोनोके मेलसे साम पद होता है।

२३ मन्त्र ।

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम। तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। (१ । ६ । ५) ।

सान्वय पदार्थ ।

अथ (त्रिभुवनके ज्ञानके अनन्तर तदन्तर्गत शक्तिके ज्ञानका उपदेश किया जाता है) यत् (जो) एतत् (यह) आदित्यस्य (आदित्यकी) शुक्लम् (श्वेत) भाः (दीप्ति है) सा एव (वही) ऋग् (ऋग्वेद है) अथ (और) यत् नीलम् (जो नील) परः

कृष्णं (अर्थात् अतिशय कृष्ण है) तत् (वह) साम (साम है) तत् एतत् आदि पूर्ववत् जानना चाहिये।

सरलार्थ।

और जो यह धवल कान्ति आदित्यकी है वही ऋग्वेदकी है। और जो अतिशय कृष्ण कान्ति है वही सामवेद है। वही यह कृष्ण कान्ति वाला सामवेद इस शुक्ल कान्ति समान ऋग्वेदके अन्तर्गत है इसलिये ऋग्वेदके साथ साम गाया जाता है।

२४ मन्त्र।

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः। (१।६।६)।

सान्वय पदार्थ।

अथ (अब) आदित्यस्य (आदित्यकी) यत् (जो) एतत् (यह) शुक्लम् (श्वेत) भाः (दीप्ति है) सा एव (वही) सा (सा है) अथ (और) यत् (जो) नीलम् (नील अर्थात्) परः (अतिशय) कृष्णं (श्यामता है) तत् (वह) अम (अम-है) अथ (तथा) अन्तरादित्ये (आदित्यके मध्यमें) यत् (जो) एषः (यह] हिरण्मयः (ज्योतिर्मय) पुरुषः (पुरुष) दृश्यते (देखा जाता है, वह) हिरण्यश्मश्रुः (ज्योतिः स्वरूप दाढ़ी मूछों-वाला और) हिरण्यकेशः (ज्योतिर्मय केशवाला, और जिसका)

सर्वं एव (सम्पूर्णंही) आप्रणखात् (नख शिख तक) सुवर्णः (ज्योतिर्मय है, वह सब सामस्वरूप है)।

सरलार्थ।

जो यह आदित्यकी शुक्ल प्रतिभा है वही (सा) है, और जो यह अतिशय नील प्रतिभा है वही अम है। इन दोनो की एकतासे साम पद हुआ है। और आदित्यके बीच जो ज्योतिर्मय पुरुष (तेज पुञ्ज) है जिसकी हिरण्मय दाढ़ी है, और ज्योतिर्मय केश हैं अधिक क्या! जिसके नख शिख आदि सम्पूर्ण ज्योतिर्मय हैं। वह सब साम रूप है।

भावार्थ।

"साम" शब्दका अर्थ है समान रूपसे सब जगह रहने वाला बाहरके पांच स्थलोंमें उसकी पांच प्रकारको सत्ता है—(भूर्लोकमें) पृथिवी समान (सा) में अग्नि सदृश (अम) (भुवर्लोकमें) अन्तरिक्ष समान (सा) में वायु रूप अम है। (स्वर्लोकमें) द्यु लोक समान (सा) में आदित्य समान (अम) है। उसके ऊपर नक्षत्र लोक समान (सा) में चन्द्र सदृश अम है। इसी प्रकार आदित्यके शुक्लांश समान (सा) में आदित्यके कृष्णांश सदृश अम वर्तमान है। इधर शरीरमें सामकी अन्तरंग सत्ता इस प्रकार है—"सा" वाणी, अम प्राण। "सा" नेत्र, अम नेत्रस्थ (पुरुषरूप) आत्मा। "सा" श्रोत्र, "अम" मन, "सा" शुक्ल दीप्ति, "अम" कृष्ण दीप्ति। और सा व्यापक सत्ता, तथा अम विज्ञेय पदार्थ हैं।

मनुष्य-बुद्धिका झुकाव प्रायः पार्थिव पदार्थोंकी तरफ अधिक रहता है, इसलिये इस उपनिषद् में सामकी महिमा पृथ्वीसे प्रारम्भ करके द्यु लोक तक ऊपर और फिर द्यु लोकही सृष्टिका अन्त होनेके कारण वहींसे क्रमशः नीचे उतरती आयी है, इस स्थल पर द्यु लोक शब्दसे आदित्य मण्डल और आदित्य शब्दसे ज्योति अपेक्षित है ।

२५ मन्त्र ।

त्रयोहोद्गीथे कुशला बभूवुः, शिलकः शालावत्यश्चैकि-तायनो दाल्भ्यः । प्रवाहणो जैवलिरिति ते होचुः, उद्गीथे वै कुशलाः स्मोहन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ (१ । ८ । १) ।

सान्वय पदार्थ ।

त्रयः (तीनो) उद्गीथे (उद्गीथमें) कुशलाः (निपुण) बभूवुः (हुए) शिलकः (शिलक) शालावत्यः (शालावत्य) च (और) चैकितायनः (चिकितायनका लड़का) दाल्भ्यः (दाल्-भ्य) प्रवाहणः (प्रवाहण) जैवलिः (जैवलि) ते (वे तीनो) ह (प्रसिद्ध) उचुः (बोले) उद्गीथे (उद्गीथमें) वै (निश्चय) कुशलाः (प्रसिद्ध) स्मः (हूं) हन्त (हर्ष) उद्गीथे (उद्गीथके समझनेके लिये) कथाम् (विचार इतिहास) वदामः (कहता हूं)

भावार्थ ।

पूर्वमें साम वा शरीरका विचार किया है कि शरीर किसके आश्रयसे रहता है । इस विषयमें जैवलि शिलक और दाल्भ्य इन तीनोने आपसमें विचार किया । शिलकने कहा कि जीव शरीरका

आधार प्राण है। विराट् के शरीरका आधार द्यु लोक है। फिर दाल्भ्यने कहा कि यह आधार ठीक नहीं, किन्तु शरीरका आधार "अपान" है। अपानके ठीक रहनेसे प्राणादि सब शरीर ठीक रहता है। विराट्के शरीरका आधार भूलोक है। भूलोकहीसे यज्ञादिका अमृत द्यु लोक आदिमें मिलता है। अन्तमें जैवलिने कहा कि यह भी आधार ठीक नहीं है। जीव मात्रका शरीर 'समान' वायुसे ठीक रहता है, क्योंकि उसीके आधारपर प्राण, और अपान ये दोनो चलते हैं। विराट्के शरीरका आधार आकाश है, क्योंकि आकाशहीके आधारपर द्यु लोक और भूलोकका व्यवहार चलता है। जीव मात्रके शरीरका समान वायु अन्नके अधीन है. अर्थात् अन्नहीके मिलनेसे समानका व्यापार चलता है। उससे अपानका व्यापार चलता है। और उससे प्राणका। इन सबके ठीक रहनेसे शरीर ठीक रहता है, इसलिये अन्नके विषयमें उषस्तिचाक्रायणका दृष्टान्त दिया गया है और इस अन्नका भी उचित रूपसे उपार्जन करनेके लिये दाल्भ्यवकका दृष्टान्त दिखलाया है।

प्रथम अध्याय समाप्त।

अथ द्वितीय अध्याय ।



इसके आगेके मन्त्रोंमें पांच प्रकारके सामोंकी छः स्थलोंमें प्रतिष्ठा दिखायो जातो है।

१ मन्त्र ।

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत। पुरोवातो हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः। (२।३।१)।

सान्वय पदार्थ ।

वृष्टौ (जल बर्षणमें) पञ्चविधम् (पांच प्रकार) साम (साम) उपासीत (विचार करे) पुरोवातः (जो पूर्वी वायु है, वह) हिङ्कारः (हिङ्कार या शान्ति वचन है) मेघो जायते (उससे मेघ उत्पन्न होता है) स प्रस्तावः (वह प्रस्ताव है) वर्षति (जो बरसता है) सः उद्गीथः (वह उद्गीथ है) विद्योतते (जो बिजली चमकती है तथा जो) स्तनयति (गरजता है) सः प्रतिहारः (वह प्रतिहार है)।

सरलार्थ ।

वरसातमें पांच प्रकारके सामकी कल्पना करे। जो प्राथमिक वायु है वही हिंकार है। जो मेघ (बादल) उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है क्योंकि इसे देखकर ही वृष्टि होनेका अनुमान होता है जो बरसता है वह उद्गीथ है क्योंकि उद्गीथकी तरह वह

मन्दमन्द धारा गिराता है और मेघमें जो विजली चमकती है तथा जो गरजता है वह प्रतिहार है। निधन आगे कहते हैं।

२ मन्त्र।

उद्गृह्णाति तन्निधनं ? वर्षति हास्मै वर्षयति ह। य एत-देवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते। (२।३।२)।

सान्वय पदार्थ।

उद् गृह्णाति (वृष्टिके अन्तमें जो उपसंहार करता है) तन्निधनम् (वह निधन है) यः (जो) एतम् (इसको) एवं (ऐसा) विद्वान् (जानता हुआ) वृष्टौ (वृष्टि विषयमें) पञ्च-विधम् (पञ्चविध) साम (सामका) उपास्ते (बिचार करता है) अस्मै ह (इस साधकके लिये) वर्षति (आनन्दकी वृष्टि होती है और) वर्षयति ह (दूसरोंके हृदयों में भी आनन्दकी वृष्टि करता है)।

सरलार्थ।

और जो वर्षाकी समाप्ति होती है उसको निधन कहते हैं। जो विद्वान् ऐसा समझता हुआ पञ्चविध सामकी उपा-सना (विचार) करता है, इसके लिये आनन्दकी वर्षा होती है और वह दूसरोंके हृदयोंमें भी आनन्द बरसाता है।

३ मन्त्र।

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत पृथिवीं हिङ्कारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यू-र्ध्वेषु। (२।२।१)।

सान्वय पदार्थ।

लोकेषु (पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोकोंमें) पञ्चविधम् (हिङ्कार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन आदि पांच प्रकार) साम (गीति के अवयवोंको) उपासीत (विचार करे) पृथिवी (पृथिवी) हिङ्कारः (हिङ्कार) अग्निः प्रस्तावः (अग्नि प्रस्ताव) अन्तरिक्षम् उद्गीथः (अन्तरिक्ष उद्गीथ) आदित्यः प्रतिहारः (आदित्य प्रतिहार और) द्यौः निधनम् (द्यु लोक निधन है) इति ऊर्ध्वम् (यह व्यवस्था नीचेसे ऊपर है)।

सरलार्थ।

पृथिव्यादि लोकोंमें पांच प्रकारके सामकी कल्पना करनी चाहिये यथा-पृथिवी हिंकार, अग्नि प्रस्ताव, अन्तरिक्ष उद्गीथ। आदित्य प्रतिहार और द्यु लोक निधन है। लोकोंकी व्यवस्थाक्रमसे एकसे ऊपर एक समझना।

४ मन्त्र।

अथाऽऽवृत्तेषु द्यौ हिंङ्कार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमु-द्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम्। (२।२।२)।

सान्वय पदार्थ।

अथ (अब) आवृत्तेषु (ऊपरसे नीचेकी ओर) द्यौर्हिङ्कारः (द्यु लोक हिङ्कार) आदित्यः प्रस्तावः (आदित्य प्रस्ताव) अन्तरिक्षम् उद्गीथः (अन्तरिक्ष उद्गीथ) अग्निः प्रतिहारः (अग्नि प्रतिहार या वहन करने वाला और) पृथिवी निधनम् (पृथिवी निधन है), क्योंकि यह सब पदार्थोंको अपनेमें स्थापित करती है।

सरलार्थ।

क्रमसे ऊर्ध्व २ लोकोंका वर्णन पूर्व मन्त्रमें करके अब क्रमसे अधो अधो लोकोंकी व्यवस्था इस मन्त्रमें है। यथा-द्यु लोक ही हिंकार! आदित्य ही प्रस्ताव! अन्तरिक्षही उद्‌गीथ अग्नि ही प्रतिहार और पृथिवी हि निधन है॥

५ मन्त्र।

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत। मेघो यत् सम्प्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्‌गीथ। याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम्। (२।४।१)।

सान्वय पदार्थ।

सर्वासु (सब बापी, कूप, तड़ाग आदि) अप्सु (जलोंमें-) पञ्चविधं (पांच प्रकार सामको) उपासीत (बिचार करे) मेघो-यत् सम्प्लवते (मेघ जो नदीके भापसे बनता है) स हिङ्कारः (वह हिङ्कार है) यद् वर्षति (जो बरसता है) स प्रस्तावः (वह-प्रस्ताव है) याः प्राच्यः (जो जल पूर्व मुखहो) स्यन्दन्ते (वह-ता है) स उद्गीथः (वह उद्गीथ है) याः प्रतीच्यः (जो पश्चिम मुख हो वहता है) स प्रतिहारः (वह प्रतिहार है तथा) समुद्रो निधनम् (सब जलोंकी समाप्ति स्थान होनेसे समुद्र निधन है)।

सरलार्थ।

सब प्रकारके जलोंमें पञ्चविध सामका विचार करे। यथा जो जल भाप बनकर ऊपरकी ओर उड़ता है, वह हिंकार है। जो जल बरसता है, वह प्रस्ताव है। जो जल पूर्वाभिमुख हो

कर बहता है वह उद्गीथ है, जो जल पश्चिमाभिमुख होकर बहता है वह प्रतिहार है, और समुद्र जो सब प्रकारके जलोंको अपनेमें समावेश करलेता है वह निधन है।

६ मन्त्र।

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान् भवति। य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपास्ते। (२।४।२)।

सान्वय पदार्थ।

यः (जो) एवम् (ऐसा) विद्वान् (जानता हुआ) सर्वासु (सब) अप्सु (जलोंमें) एतत् (इस) पञ्चविधम् (पांच प्रकारके) साम (सामका) उपासते (विचार करता है) नह (कदापि नहीं) अप्सु (जलोंमें) प्रैति (मरता) अप्सुमान् भवति (जलवाला होता है)।

सरलार्थ।

जो विद्वान् ऐसा जानता हुआ सब जलोंमें पांच प्रकारके सामका विचार करता है वह जलोंमें कदापि नहीं मरता है और सर्वत्र जलवाला होता है।

७ मन्त्र।

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत। वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् (२।५।१)।

सान्वय पदार्थ।

ऋतुषु (वसन्तादि ऋतुओंमें) पञ्चविधम् (पांच प्रकार से),

साम (सामविधिका) उपासीत (विचार करे) वसन्तः (वसन्त) हिङ्कारः (हिङ्कार है) ग्रीष्मः (ग्रीष्म) प्रस्तावः (प्रस्ताव है) वर्षाः (वर्षा) उद्गीथः (उद्गीथ है) शरत् (शरद् ऋतु) प्रतिहारः (प्रतिहार है) हेमन्तः (हेमन्त) निधनं (निधन है) ।

सरलार्थ।

वसन्तादि ऋतुओंमें सामविधिका इस तरह पांच प्रकारका विवेक करे कि, वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है, और हेमन्त निधन है।

८ मन्त्र।

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान् भवति। य एतदेवं विद्वान् ऋतुषु पञ्चविधं सामोपास्ते। (२।५।२)।

सान्वय पदार्थ।

यः (जो विद्वान्) एवम् (ऐसा) विद्वान् (जानता हुआ) ऋतुषु (ऋतुओंमें) एतत् (इस) पञ्चविधम् (पांच प्रकारके) साम (सामका) उपास्ते (अवधारण करता है) अस्मै ह (इस उपासकके लिये) ऋतवः (सब ऋतुएं) कल्पन्ते (भोग रूपसे उपस्थित होती हैं और वह) ऋतुमान् (ऋतु—समृद्धिशाली) भवति (होता है) ।

सरलार्थ।

जो विद्वान् ऐसा जानता हुआ ऋतुओंमें इस पांच प्रकारके सामका अवधारण करता है; उसके लिये सब ऋतुएं भोग रूपसे उपस्थित होती हैं और वह ऋतु-समृद्धिशाली बनता है

९ मन्त्र।

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत। अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम्। (२।६।१)।

सान्वय पदार्थ।

पशुषु (पशुओंमें) पञ्चविधम् (पांचप्रकारके) साम (सामका) उपासीत (विवेचन करे) अजाः (बकरोंके सदृश पशुमात्र) हिङ्कारः (हिङ्कार हैं) अवयः (भेड़ोंके सदृश पशु) प्रस्तावः (प्रस्ताव हैं) गावः (गायें) उद्गीथः (उद्गीथ हैं) अश्वाः (घोड़े) प्रतिहारः (प्रतिहार हैं) पुरुषः (पुरुष) निधनम् (निधन है)।

सरलार्थ।

पशुओंमें पांच प्रकारके सामका विवेचन करे; इस प्रकार कि, बकरेके सदृश पशुमात्र हिंकार हैं, भेड़ोंके सदृश पशु प्रस्ताव हैं, गायें उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन हैं।

१० मन्त्र।

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति! य एतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविधं सामोपास्ते। (२।६।२)।

सान्वय पदार्थ।

यः (जो) एवम् (ऐसा), विद्वान् (जानता हुआ) पशुषु (पशुओंमें) एतत् (इस) पञ्चविधम् (पांचप्रकारके) साम (सामका) उपास्ते (मनन करता है) अस्य (उसके) ह (नि-

श्चय रूपसे) पशवः (बिपुल पशु) भवन्ति (होते हैं और वह) पशुमान् (विपुल पशुवाला) भवति (होता है)।

सरलार्थ ।

जो ऐसा जानता हुआ पशुओंमें इस पांच प्रकारके सामका मनन करता है, उसके अवश्य विपुल पशु होते हैं, और वह विपुल पशुवाला होता है।

११ मन्त्र ।

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत ! प्राणो हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम् । परोवरीयांसि वा एतानि । (२ । ७ । १) ।

सान्वय पदार्थ ।

प्राणेष (घ्राणादिस्थ प्राणोंमें) पञ्चविधम् (पांच प्रकारके) परोवरीयः (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट) साम (सामका) उपासीत (तत्त्वावधारण करे) प्राणः (घ्राणस्थ प्राण) हिङ्कारः (हिङ्कार है) वाक् (वाक्स्थित प्राण) प्रस्तावः (प्रस्ताव है) चक्षुः (नेत्र) उद्गीथः [उद्गीथ है] श्रोत्रम् (कर्ण ; प्रतिहारः (प्रतिहार है और) मनः (मन) निधनम् (निधन है) वै (निश्चय ही) एतानि (ये घ्राणादिस्थ प्राणादि) परोवरीयांसि (उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं) ।

सरलार्थ ।

घ्राणादिस्थ प्राणोंमें पांच प्रकारके उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सामका तत्त्वावधारण करे । [इस प्रकार कि] घ्राणस्थ प्राण हिंकार है; वागृस्थित प्राण प्रस्ताव है; नेत्र उद्गीथ है; कर्ण प्रतिहार है

और मन निधन है। ये प्राणस्थ प्राणादि निश्चयसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

१२ मन्त्र।

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य। (२।७।२)।

सान्वय पदार्थ।

यः (जो) एवम् (ऐसा) विद्वान् (जानता हुआ) एतत् (इस) पञ्चविधम् (पांच प्रकारके) परोवरीयः (उत्तरोत्तर श्रेष्ठ) साम (सामका) उपास्ते (तत्त्वावधारण करता है) अस्य ह (निश्चय उस विद्वान्का जीवन) परोवरीयः (सर्वोत्कृष्ट) भवति (होता है) ह (प्रसिद्ध) परोवरीयः (सर्वोत्तम) लोकान् (लोकोंमें) जयति (विजयी होता है) इति तु (यह) पञ्चविधस्य (पञ्चविध सामका वर्णन समाप्त हुआ)।

सरलार्थ।

जो [कोई साधक] ऐसा जानता हुआ इस पांच प्रकारके उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सामका तत्त्वावधारण करता है, उसका जीवन निश्चय सर्वोत्कृष्ट होता है; [और वह] प्रसिद्ध सर्वोत्तम लोकोंमें विजयी होता है। यह पंचविध सामका वर्णन समाप्त हुआ।

भावार्थ।

सामके हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन आदि जो पांच भेद हैं; उनकी वृष्टि लोक, जल, ऋतु, पशु और प्राण

आदि छः स्थानोंमें प्रतिष्ठा है ! इन छओं प्रतिष्ठा स्थानोंमें किसकी कहां प्रतिष्ठा है, यही ऊपरके मन्त्रोंमें स्पष्ट रीतिसे दिखायी गयी है। आगे सात प्रकारके सामके भेद और प्रतिष्ठा वर्णन की गयी है।

१३ मन्त्र ।

अथ सप्तविधस्य। वाचि सप्तविधं सामोपासीत। यत् किञ्च वाचो हुमिति [हुं ३ इति] स हिङ्कारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः। यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् । (२।८।१-२)।

सान्वय पदार्थ।

अथ (अब) सप्तविधस्य (सात तरहके सामकी व्याख्या करते हैं) वाचि (वाणीके विषयमें) सप्तविधम् (सात प्रकारके) साम (सामगानका) उपासीत (विचार करे) वाचः (वाणी-सम्बन्धी) यत्किञ्च (जो कुछ) हुम् इति (हुंके समान अक्षर है) सः (वह) हिङ्कारः (हिङ्कार है) यत् (जो) प्रति (प्र यह अक्षर है) सः (वह) प्रस्तावः (प्रस्ताव है) यद् (जो) आ इति (आ है) सः (वह) आदिः (आदि नामक साम है) यद् (जो) उद (उद) इति (यह पद है) सः (वह) उद्गीथ (उद्गीथ है) यद् (जो) प्रति इति (प्रति यह पद है) सः (वह) प्रतिहारः (प्रतिहार है) यद् (जो) उप इति (उप यह पद है) सः (वह) उपद्रवः (उपद्रव है और) यद् (जो) नि इति (नि यह पद है) तत् (वह) निधनम् (निधन है)।

सरलार्थ ।

अब [हम] सात प्रकारके सामकी व्याख्या करते हैं वाणीके विषयमें सात प्रकारके सामगानका विचार करे। वाणी संबन्धी जो कुछ 'हुं' रूप अक्षर है, वह हिंकार है, जो 'प्र' पद है, वह प्रस्ताव है; जो 'आ' है, वह आदि नामक साम है, जो 'उद्' पद है, वह उद्गीथ है; जो 'प्रति' पद है; वह प्रतिहार है; जो 'उप' पद है; वह उपद्रव है और जो 'नि' पद है वह निधन है।

१४ मन्त्र ।

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत। सर्वदा समस्तेन साम। मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम (२।९।१)।

सान्वय पदार्थ ।

अथ (अब) खलु (निश्चयसे) अमुम् (इस) आदित्यम् (आदित्यके समान) सप्तविधम् (हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन इस सात प्रकारके) साम (गेय सामका) उपासीत (ईश्वरीय सृष्टिमें विचार करे) (वह आदित्य) सर्वदा (सदा) समः (समान है) तेन (इस कारण) साम (सामवत् है) मां प्रति (मेरे संमुख) मां प्रति (मेरे संमुख वह आदित्य वर्तमान है ऐसा लोग समझते हैं) इति (इस कारण) सर्वेण (सबके साथ) समः (सम है) तेन (इसलिये वह) साम (सामतुल्य है)।

सरलार्थ ।

अब इस आदित्य समान सप्तविध — हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन स्वरूप — गेय सामका (ईश्वरी दृष्टिमें) विचार करे। (वह आदित्य) सदा समान है इस कारण सामवत् है (सब लोग ऐसा समझते हैं कि वह आदित्य) हमारे संमुख है, इस कारण वह सबके साथ सम है; इसलिये (वह) साम तुल्य है।

भावार्थ ।

पांच प्रकारके पहले सामोंमें आदि और उपद्रवके मिलनेसे सात प्रकारके साम हुए। इनकी क्रमशः भूतोंमें आदित्यमें और शरीरमें वाक्में प्रतिष्ठा है।

अब सप्तविध सामके अवान्तर भेद और लोक जय, लोक प्राप्ति फलका विवरण बतानेवाले मन्त्रोंका क्रम लिखा जाता है।

१५ मन्त्र ।

अथ खल्वात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् । (२।१०।१)

सान्वय पदार्थ ।

अथ (अब) खलु आत्मसम्मितम् (अपने तुल्य वा परमात्म तुल्य) अतिमृत्यु (मृत्युको अतिक्रम करने वाले) सप्तविधम् (सप्त विध) साम (गेय सामका) उपासीत (भावना करे) हिङ्कार, इति (हिङ्कार यह पद) त्र्यक्षरम् (हिं, का, र, तीन अक्षरोंका है) प्रस्ताव इति (प्रस्ताव यह पद) त्र्यक्षरम् (प्र, स्ता, व,

तीन अक्षरोंका है) तत् (वे दोनो) समम् (सम हैं)।

सरलार्थ।

अब अपने तुल्य वा परमात्म तुल्य मृत्युको अतिक्रम करने वाले सप्तविध गेय सामका भावना करे और समझले कि हिंकार यह पद (हिं, का, र,) तीन अक्षरोंका है और 'प्रस्ताव' यह पद भी (प्र, स्ता, व,) तीन अक्षरोंका है; इस कारण वे दोनो सम हैं और उनमें छ अक्षर हैं।

१६ मन्त्र।

आदिरिति द्व्यक्षरम्। प्रतिहार इति चतुरक्षरम्। तत इहैकं तत्समम्। (२।१०।२)

सान्वय पदार्थ।

आदिः इति (आदि यह पद) द्व्यक्षरम् (आ, दि, दो अक्षरोंका है) प्रतिहारः इति (प्रतिहार यह पद) चतुरक्षरम् प्र, ति, हा, र, चार अक्षरोंका है) ततः (उस प्रतिहार पदसे) एकम् (एक अक्षर लेकर) इह (इस आदि पदमें स्थापन करनेसे) तत् (ये दोनो) समम् (तीन अक्षरोंके कारण समान हो जावेंगे)

सरलार्थ।

'आदि' यह पद दो अक्षरोंका है और 'प्रतिहार' यह पद चार अक्षरोंका है। उस प्रतिहार पदसे एक अक्षर लेकर इस आदि पदमें स्थापन करनेसे वे दोनो (तीन तीन अक्षरों वाले होकर समान हो जावेंगे। और मिल कर ६ होंगे।

१७ मंत्र।

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम्। (२।१०।३)

सान्वय पदार्थ।

उद्गीथ इति (उद्गीथ यह पद) त्र्यक्षरम् (उद्, गी, थ तीन अक्षरोंका है) (और) उपद्रव इति (उपद्रव यह पद) चतुरक्षरम् (उ, प, द्र, व चार अक्षरों का है) त्रिभिः त्रिभिः (तीन तीन अक्षर लेनेसे) (ये दोनो) समम् (समान हैं) अक्षरम् (उपद्रव पदमें एक अक्षर) अतिशिष्यते (अवशेष रह जाता है) त्र्यक्षरम् (अन्य तीन तीन अक्षरोंसे) तत् (वह) समम् (सम है) (इस प्रकार ६ और १ अक्षर अर्थात् ७ अक्षर हुए)

सरलार्थ।

'उद्गीथ' यह पद तीन अक्षरोंका है, और 'उपद्रव' यह पद चार अक्षरोंका है। तीन तीन अक्षर लेनेसे ये दोनो समान होते हैं और 'उपद्रव' पदमें एक अक्षर अवशिष्ट 'व' यह शब्द अ, क्ष, र, ऐसे तीनवर्णवाले अक्षर शब्दसे वाच्य होनेसे वह भी त्र्यक्षर हो गया।

१८ मंत्र।

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति। तानिहवा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि। (२।१०।४)

सान्वय पदार्थ।

निधनम् इति (निधन यह पद) त्र्यक्षरम् (नि, ध, न तीन

अक्षरोंका है) तत् (वह) समम् (सम) एव (ही) भवति (है) तानि (वे) एतानि (ये) द्वाविंशतिः (बाईस) अक्षराणि (अक्षर हैं)

सरलार्थ।

निधन पद तीन अक्षरोंका है। (इस कारण) वह समान ही है। ये सब बाईस अक्षर होते हैं।

१६ मंत्र।

एकविंशत्याऽऽदित्यमाप्नोत्येकविंशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविंशेन। परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम्। (२।१०।५)

सान्वय पदार्थ।

एकविंशत्या (इक्कीस अक्षरोंसे) आदित्यम् (आदित्यरूप मृत्युकी) आप्नोति (विजय को पाता है) वै (निश्चय) इतः (इस स्थानसे) असौ (यह) आदित्यः (आदित्य) एकविंशः (इक्कीसवां है) द्वाविंशेन (बाईसवें अक्षरसे) आदित्यात् (आदित्यसे) परम् (उत्कृष्ट ज्योतिर्मय लोकोंको) जयति (जीतता है) तत् (वह ज्योतिर्मय लोक) नाकम् (सुख स्वरूप है) तत् (वह) विशोकम् (शोक रहित है)

सरलार्थ।

इक्कीस अक्षरोंसे आदित्यरूप मृत्युकी विजयको पाता है। इस स्थानसे यह आदित्य इक्कीसवां है। बाईसवें अक्षरसे आदित्यसे भी उत्कृष्ट ज्योतिर्मयलोकको जीतता है। वह ज्योतिर्मयलोक सुख स्वरूप है और शोक रहित है।

भावार्थ ।

सप्तविध सामके अक्षरोंकी संख्या २२ है, जिनसे बाईस सीढ़ियां बनती हैं। १ आदित्य, ३ लोक ६ ऋतु, और १२ मास—ये २२ सोपान हैं। मासोंसे उलटा प्रारंभ कर इक्कीसवीं सीढ़ीमें आदित्यको प्राप्त करनेपर २२ वीं में आदित्यके ऊपरके भी लोक जीत लिये जाते हैं, जो देवयानसे प्राप्य कहे जाते हैं। ये देवयानसे प्राप्य शोक-मोह आदिसे रहित हैं। इस प्रकारकी उपासना करनेवाला साधक मृत्युभय-रहित होता है और उसे आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

तीन तीन जोड़ीमें पञ्चविध सामोपासनाको पुष्ट करनेवाले ये मंत्र हैं।

२० मंत्र ।

तदेष श्लोको यानि पञ्चधात्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति । (२ । २१ । ३)

सान्वय पदार्थ ।

तत् (उक्त विषयमें) एषः (यह) श्लोकः (श्लोक है) पञ्चधा (हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन विभागमें) यानि (जो) त्रीणि त्रीणि (तीन तीन या त्रिक—त्रयो वा तीनो वेद, हिंकार, तीन लोक आदि कहे गये हैं) तेभ्यः (उन त्रिकोंसे) ज्यायः (बड़ा) (और) परम् (उत्कृष्ट) अन्यत् (अन्य कोई पदार्थ) न (नहीं (अस्ति (है)

सरलार्थ ।

उक्त विषयमें यह श्लोक है। हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ,

प्रतिहार और निधन विभाग में जो त्रिक कहे गये हैं; यथा— त्रयी या तीन वेद, हिंकार, तीन लोक आदि—उन त्रिकोंसे बड़ा और उत्कृष्ट अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

भावार्थ।

सारांश यह कि, इस प्रकार तीन तीन जोड़ोंमें पंचविध सामोपासना तीन वेदके (हिंकार) ज्ञानसे तीन लोककी (प्रस्ताव) सामग्री होती है। इन तीनो लोकोंके प्रकाशक होनेसे अग्नि, वायु, आदित्यकी (उद्गीथ) रूपसे उपासना और उससे नक्षत्र, पक्षी, मरीचिका (प्रतिहार) भोग प्राप्त होता है, जिससे सर्प, गन्धर्व और पितरोंके भोगमें (निधन) पर्यवसान होता है।

इन तीनो योनियोंसे ऊपर जानेके लिये तोन सवन हैं। इनका वर्णन अगले मन्त्रोंमें देखिये।

२१—२२ मंत्र।

ब्रह्मवादिना वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनं रुद्राणां माध्यं दिनं सवनमादित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीयसवनम्। क्वतर्हि यजमानस्यलोक इति। (२। २४। १—२)

सान्वय पदार्थ।

ब्रह्मवादिनः (वेदविद्) वदन्ति (कहते हैं) यद् (जो) प्रातः सवनम् (प्रातःकालिक यज्ञ-क्रिया-जनित फल है) (वह) वसूनाम् (पृथिवीके अधिष्ठातृ वसुदेवताके अधीन है) माध्यन्दिनम् (जो माध्यन्दिन सम्बन्धी यज्ञक्रिया जनित फल है) (वह) रुद्राणाम् (अन्तरिक्षके अधिष्ठातृ देवताके अधीन है) तृतीयं

सवनम् (जो तृतीय सवन जनित फल है) आदित्यानांच (वह द्यु लोकमें वर्तमान सूर्य आदि) विश्वेषाञ्च (सब) देवानाञ्च (देवोंके अधीन हैं) तर्हि (तब) यजमानस्य (यज्ञ करनेवालेको) क्व (कहां) लोकः (भोगलोक मिलेगा)

सरलार्थ ।

वेदवित् पुरुष कहते हैं कि जो प्रातःकालिक यज्ञ-क्रिया जनित फल है वह पृथिवीके अधिष्ठातृ वसुदेवता के अधीन है; जो माध्यन्दिन सम्बन्धी यज्ञक्रिया जनित फल है वह अन्तरिक्षके अधिष्ठातृ देवताके अधीन है; और जो तृतीय सवन जनित फल है वह द्यु लोकमें वर्तमान सूर्य आदि सर्व देवोंके अधीन है। अर्थात् उपर्युक्त तीनो लोक वस्वादि देवताओंके अधीन होनेसे यज्ञ करनेवालोंको भोग योग्य स्थान कहां है? इसलिये यजमान प्रातः सवनादिकोंमें वसु इत्यादि देवोंकी आराधना कर उन्हीके ऐश्वर्योंमें अपने भागकी प्रार्थना करें, जिसमें वे सन्तुष्ट होकर उसे अपने तुल्य ऐश्वर्य अर्पण करें ।

द्वितीय अध्याय समाप्त ।

अथ तृतीय अध्याय।

—:o:—

पूर्व कथनानुसार भूः, भुवः, स्वः इन तीनो लोकोंकी उत्पत्ति आदित्यसे है; इसलिये इनसे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय आदित्योपासना ही है। इसलिये आदित्य ही 'मधु' माना गया है।

आदित्यका मधुत्व, आदित्योपासना और उपासनाफल बताने वाले मंत्र ये हैं :—

१ मन्त्र।

असौ वा आदित्यो देव—मधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीन वंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः। (३।१।१।)

सान्वय पदार्थ।

वै (निश्चय) असौ (यह) आदित्यः (आदित्य) देवमधु (देवों या महापुरुषोंके लिये मधु है) तस्य (उसका) द्यौः (द्युलोक) एव (ही) तिरश्चीनवंशः (टेढ़ा बांस है) अन्तरिक्षम् (अन्तरिक्ष ही) अपूपः (मधुमक्षिकाका छत्ता है) मरीचयः (किरणें) पुत्राः (पुत्र हैं)

सरलार्थ।

यह आदित्य ही देवों या महापुरुषोंके लिये मधु है। द्युलोक ही उसका टेढ़ा बांस है। अन्तरिक्ष मधुमक्षिकाका

छत्ता है। आदित्यसे किरण द्वारा भूमिपर खींचा हुआ सूक्ष्म जल वही भ्रमरके बीज भूत छोटे २ बच्चे हैं।

२—६ मन्त्र।

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यः। अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः। अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यः। अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यः। (३। १।२; ३।२।१; ३।३।१; ३।४।१; ३।५।१)

सान्वय पदाथ।

तस्य (उस आदित्यकी) ये (जो) प्राञ्चः (पूर्वदिशामें फैली हुई) रश्मयः (किरणें हैं) ताः (वे) एव (ही) अस्य (इस छत्तेकी) प्राच्य (पूर्वी) मधुनाड्यः (मधु वा शहदकी नालियां हैं) अथ (और) ये (जो) अस्य (इसकी) दक्षिणा (दक्षिण दिशाकी) रश्मयः (किरणें हैं) ताः (वे) एव (ही) अस्य (इस छत्तेकी) दक्षिणा (दक्षिणी) मधुनाड्यः (शहदकी नालियां हैं) अथ (और) ये (जो) अस्य (इसकी) प्रत्यञ्चः (पश्चिमी) रश्मयः (किरणें हैं) ताः (वे) एव (ही) अस्य (इसकी) प्रतीच्यः (पश्चिमी) मधुनाड्यः (शहद की नालियां हैं) अथ (और) ये (जो) अस्य (इसकी) उदञ्चः (उत्तरी) रश्मयः (किरणें हैं) ताः (वे) एव (ही) अस्य (इस छत्तेकी) उदीच्यः (उत्तरीय) मधुनाड्यः (शहदकी नालियां हैं) अथ (और) ये (जो) अस्य

(इस आदित्यकी) ऊर्ध्वा (ऊपर जानेवाली) रश्मयः (किरणें हैं) ताः (वे) एव (ही) अस्य (इस छत्तेकी) ऊर्ध्वा (ऊपर जानेवाली) मधुनाड्यः (शहदकी नालियां हैं)

सरलार्थ।

उस (आदित्यकी) जो पूर्व दिशामें फैली हुई किरणें हैं, वे ही इस छत्तेकी पूर्वी (शहदकी) नालियां हैं। जो इसकी दक्षिणी दिशाकी किरणें हैं, वे ही इसकी दक्षिणी नालियां हैं। जो इसकी पश्चिमी किरणें हैं, वे ही इसकी पश्चिमी नालियां हैं। जो इसकी उत्तरी किरणें हैं, वे ही इसकी उत्तरी नालियां हैं और जो इस आदित्यकी ऊपर जानेवाली किरणें हैं, वे ही इस छत्तेकी ऊपर जानेवाली नालियां हैं।

७—११ मन्त्र।

तद्यत्प्रथममममृतं तद्वसव उपजीवन्ति। अथ यद् द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्ति। अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति। अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति। अथ यत्पञ्चममममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति। (३।६।१; ३।७।१; ३।८।१; ३।९।१; ३।१०।१)

सान्वय पदार्थ।

तत् (उन अमृतोंमेंसे) यत् (जो) प्रथमम् (पहला) अमृतम् (अमृत है) तत् (उससे) वसवः (वसु नामके देवता) उपजीवन्ति (तृप्त होते हैं) अथ (और) यद् (जो द्वितीयम् (दूसरा) अमृतम् (अमृत है) तत् (उससे) रुद्राः (रुद्र

नामक देवता) उपजीवन्ति (तृप्त होते ह) अथ (और) यद् (जो) तृतीयम् (तीसरा) अमृतम् (अमृत है) तत् (उससे) आदित्याः (आदित्य नामक देवता) उपजीवन्ति (तृप्त होते हैं) अथ (और) यत् (जो) चतुर्थम् (चौथा) अमृतम् (अमृत है) तत् (उससे) मरुतः (मरुत् नामक देवता) उपजीवन्ति (तृप्त होते हैं) अथ (और) यत् (जो) पञ्चमम् (पांचवां) अमृतम् (अमृत है) तत् (उससे) साध्याः (साध्य नामक देवता) उपजीवन्ति (तृप्त होते हैं)

सरलार्थ।

उन अमृतोंमें जो पहला अमृत है, उससे वसु नामक देवता तृप्त होते हैं। जो दूसरा अमृत है, उससे रुद्र नामक देवता तृप्त होते हैं। जो तृतीय अमृत है, उससे आदित्य नामक देवता तृप्त होते हैं। जो चतुर्थ अमृत है, उससे मरुत् नामक देवता तृप्त होते हैं और जो पंचम अमृत है, उससे साध्य नामक देवता तृप्त होते हैं।

भावार्थ।

इन मन्त्रोंका सारांश यह है कि आदित्य ही मधु है; इस लिये उसकी उपासना करनेसे इन्द्रियोंके भोगोंकी प्राप्तिके साथ हो साथ मनुष्यलोक, गन्धर्वलोक और पितृलोकके भोग भी प्राप्त होते हैं। जैसे चारो दिशाओंकी किरणें चार मधुस्रोत हैं, वैसे ही इन स्रोतोंको बनानेवाले चारो वेद मधुमक्षिकाएं हैं। यह मधु शरीरमें ज्ञान स्वरूप है और बाहर आदित्य स्वरूप है।

अब आगेके मन्त्रोंमें आदित्यरूप मधुको प्राप्त करनेवाली गायत्रीका उपदेश किया जाता है।

१२—१३ मंत्र।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम्। तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्या सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति। (३।१२।५—६)

सान्वय पदार्थ।

सा (वह) एषा (यह) चतुष्पदा (चार चरणवाली) गायत्री (गायत्री) षड्विधा (छः प्रकारकी है) तत् (वह) एतत् (यह विषय) ऋचा (ऋग्मंत्र द्वारा) अभ्यनूक्तम् (प्रकाशित हुआ है) अस्य (गायत्री) प्रदर्शित आदित्य पुरुषका) महिमा (महत्त्व) तावान् (उतना है, जितना इस निखिल ब्रह्माण्डका है) ततः (उससे भी) पूरुषः (यह ब्रह्मरूप पुरुष) ज्यायान् (बहुत बड़ा है) च (और) सर्वा (सब) भूतानि (भूत) अस्य (इस ब्रह्मके) पादः (एक पादसे परिमित है) अस्य (इसके) त्रिपाद् (तीन पाद) दिवि (द्युलोकमें हैं, और वे) अमृतम् (अमृत स्वरूप हैं)

सरलार्थ।

वह (यह) चार चरणवाली गायत्री छ प्रकारकी है। (वह) यह विषय ऋग् मन्त्रद्वारा प्रकाशित हुआ है। गायत्री-प्रदर्शित आदित्य पुरुषका महत्त्व उतना है जितना इस निखिल ब्रह्माण्डका है। उससे भी यह ब्रह्मरूप पुरुष बहुत

बड़ा है। और सब भूत इस ब्रह्मके एक पादसे परिमित हैं। इसके तीन पाद द्यु लोकमें हैं और वे अमृतस्वरूप हैं।

भावार्थ।

पृथिवी, भूत, हृदय, शरीर, प्राण, और वाक्-रूपसे गायत्री छ प्रकारकी है। इस गायत्रीद्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मका एक पाद सब भूतोंमें वर्तमान है और तीन पाद द्यु लोकमें हैं।

गायत्रीकी उपासनाके आधारभूत हृदयसे देवलोकमें जानेके लिये पांच वायुओंके पांच मार्ग या द्वार हैं। पूर्वसे प्राण-चक्षु द्वारा आदित्य-लोकमें, दक्षिणसे व्यान-श्रोत्र द्वारा चन्द्रलोकमें, पश्चिमसे अपान-वाक् द्वारा अग्निलोकमें, उत्तरसे समान-मन द्वारा पर्जन्य लोकमें तथा ऊर्ध्व-निमित्तक उदान-त्वक् द्वारा आकाश लोकमें जीवात्मा पहुंचता है। इस सम्बन्धमें मन्त्र ये हैं :—

१३—१८ मन्त्र।

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यः। अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः। अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निः। अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समान-स्तन्मनः स पर्जन्यः। अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः । (३ । १३ । १–५ ।)

सान्वय पदार्थ।

तस्य (उस गायत्रीके आधारभूत) एतस्य (इस हृदयके) ह वै (निश्चय) पञ्च (पांच) देवसुषयः (इन्द्रिय द्वार हैं) अस्य

(इस हृदय भवनका) सः (वह) यः (जो) प्राङ् (पूर्वी) सुषिः (छिद्र या द्वार है) सः (वह) प्राणः (वह प्राण है) तत् (वही) चक्षुः (नेत्र है और) सः (वही) आदित्यः (आदित्य भी है) अथ (अब) यः (जो) अस्य (उसका) दक्षिणः (दक्षिण) सुषिः (द्वार है) सः (वह) व्यानः (व्यान है) तत् (वही) श्रोत्रम् (श्रोत्र और) सः (वही) चन्द्रमाः (चन्द्रमा भी है । अथ (अब) यः (जो) अस्य (इस हृदयका) प्रत्यङ् (पश्चिमी) सुषिः (द्वार है) सः (वही) अपानः (अपान है) सा (वही) वाक् (वाणी है और) सः (वही) अग्निः (अग्नि है) अथ (अब) यः (जो) अस्य (इसका) उदङ् (उत्तरी) सुषिः (दरवाजा है) सः (वही) समानः (समान वायु है) तत् (वही) मनः (मन है और) सः (वही) पर्जन्यः (पर्जन्य है) अथ (अब) यः (जो) अस्य (इसका) ऊर्ध्वः (ऊपरका) सुषिः (दरवाजा है) सः (वही) उदानः (उदान है) सः (वही) वायुः (वायु है और) सः (वही) आकाशः (आकाश है)

सरलार्थ।

उस गायत्रीके आधारभूत इस हृदयके निश्चय पांच इन्द्रिय द्वार हैं । इस हृदय-भवनका वह जो पूर्वी छिद्र या द्वार है, वह प्राण कहलाता है । वही नेत्र है और वही आदित्य भी है । अब जो उसका दक्षिण द्वार है, वह व्यान है । वही श्रोत्र है और वही चन्द्रमा भी है । और जो इस हृदयका पश्चिमी द्वार है, वह अपान है । वही वाणी है और वही अग्नि भी है । एवं जो

इसका उत्तरी दरवाजा है, वह समान है। वही मन और वही पर्जन्य है। तथा जो इसका ऊपरका द्वार है वह उदान है, वही वायु और वही आकाश है।

इसका भावार्थ स्पष्ट है। इस प्रकरणके आगे अधिकारी पुरुषों के लिये ब्रह्मोपासनाकी विधि बतायी गयी है।

१९ मन्त्र ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। (३।१४।१)

सान्वय पदार्थ ।

इदम् (यह) सर्वं खलु (सबही दृश्यमान पदार्थ) ब्रह्म (ब्रह्म ही है) इति (इस भावसे) शान्तः (उपासक शान्त होकर) उपासीत (ब्रह्मकी उपासना करे और समझे कि) तज्जलान् (इसीसे सम्पूर्ण विश्व होता है, इसीमें सब विलीन होता है और इसीमें प्राण धारण करता है।)

सरलार्थ ।

यह सब दृश्यमान पदार्थ ब्रह्म ही हैं, इस भावसे उपासक शान्त होकर ब्रह्मकी उपासना करे और समझे कि इसीसे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है और इसीमें सब विलीन होता है और इसीमें प्राण धारण करता है।

भावार्थ स्पष्ट है। अब चित्तकी शांति और मनकी शुद्धिके लिये अगली विधि है।

२० मन्त्र ।

"तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम, सहमाना नाम दक्षिणा, राज्ञी

नाम प्रतीची, सुभूता नामोदीची। तासां वायुर्वत्सः" ॥ (३।१५।२)

सान्वय पदार्थ।

तस्य (इस ब्रह्माण्डको) प्राची दिग् (पूर्वी दिशाका) जुहूः नाम (जुहू नाम है) दक्षिणा (दक्षिण दिशाका) सहमाना नाम (सहमाना नाम है) प्रतीची (पश्चिम दिशाका) राज्ञी नाम (राज्ञी नाम है) उदीची (उत्तरका) सुभूता नाम (सुभूता नाम है) तासाम् (उन चारो दिशाओंका) वत्सः (वत्स पुत्र) वायुः (वायु है)।

सरलार्थ।

इस ब्रह्माण्डकी पूर्वी दिशाका जुहू नाम है, दक्षिणदिशा-का सहमाना नाम है, पश्चिम दिशाका राज्ञी नाम है, और उत्तर-का सुभूता नाम है। उन चारो दिशाओंका वत्स वायु है।

भावार्थ।

चारों दिशाओंका वत्स वायु है, अर्थात् जिस प्रकार वत्सको देखनेसे गौ दूध देती है, उसी प्रकार शरीरमें मनको रोकनेसे दिशाएं शान्ति प्रदान करती हैं, और मनको शुद्धि होती है। इसके अनन्तर पुरुष यज्ञकी विधि लिखी जाती है।

२१ मन्त्र।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनम् तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः। ३। १६। १।

सान्वय पदार्थ।

पुरुषः (पुरुष) वाव (ही) यज्ञः (यज्ञ है) तस्य (उसकी आयु के) यानि (जो) चतुर्विंशति (चौबीस) वर्षाणि (वर्ष हैं) तत् (वह) प्रातः सवनम् (प्रातः सवन है क्योंकि) गायत्रं प्रातः सवनम् (प्रातः सवनमें गायत्र साम गाया जाता है और वह गायत्री) गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा (चौबीस अक्षरोंकी होती है) अस्य (इस पुरुष यज्ञके) तत् (इस प्रातः सवनमें) वसवः (वसु देवता) अन्वायत्ताः (अधिष्ठाता हैं)

सरलार्थ।

पुरुष ही यज्ञ है। उसकी आयुके जो २४ वर्ष हैं वह प्रातः सवन है। क्योंकि प्रातः सवनमें गायत्र साम गाया जाता है और वह (गायत्री छन्द) २४ अक्षरोंका होता है। इस पुरुष यज्ञके इस प्रातः सवनमें वसु देवता अधिष्ठाता हैं।

२२ मन्त्र।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्मध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप, त्रैष्टुभं माध्यंदिनं सवनं, तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः। (३। १६। ३)

सान्वय पदार्थ।

अथ (प्रातः सवनके अनन्तर क्रम प्राप्त माध्यन्दिन सवनको कहते हैं) यानि (२४ वर्षोंके अनन्तर जो) चतुश्चत्वारिंशत् (४४) वर्षाणि (वर्ष हैं) तत् (वह) माध्यन्दिनं सवनम् (माध्यदिन सवन है; क्योंकि प्रायः) त्रैष्टुभं (त्रिष्टुप् छन्दका) माध्य-

दिनम् सवनम् (माध्यादिन सवन होता है और वह त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा (४४ अक्षरोंका होता है) अस्य (इस यज्ञके) तत् (इस सवनमें) रुद्राः (रुद्र देवता) अन्वायत्ताः (अधिष्ठाता होते हैं)।

सरलार्थ।

२४ वर्षोंके अनन्तर जो ४४ वर्ष हैं वह माध्यन्दिन सवन हैं; क्योंकि प्रायः त्रिष्टुप् छन्दवाले सामसे माध्यन्दिन सवन होता है; और वह (त्रिष्टुप्) ४४ अक्षरोंका होता है। इस यज्ञके इस सवनमें रुद्र देवता अधिष्ठाता होते हैं।

२३ मन्त्र।

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि, तत् तृतीयं सवनम्, अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयं सवनम्, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः (।३।१६।५)

सान्वय पदार्थ।

अथ (माध्यन्दिन सवनके बाद या आयुके ६८ वर्षोंके अनन्तर) यानि (जो) अष्टाचत्वारिंशत् (अड़तालीस) वर्षाणि (वर्ष हैं) तत् (वह) तृतीयं (तीसरा) सवनम् (सवन है, ४८ वर्ष इस तरह कि) जागतम् (जगती छन्दवाले सामसे युक्त होता है) तृतीयम् (तीसरा) सवनम् (सवन होता है और) जगती (जगती छन्द) अष्टाचत्वारिंशदक्षरा (४८ अक्षरोंका होता है) अस्य (इस यज्ञके) तत् (उस सवनमें) आदित्याः (आदित्य देवता) अन्वायत्ताः (अधिष्ठाता हैं)।

सरलार्थ।

माध्यन्दिन सवनके बाद या आयुके ६८ वर्षोंके अनन्तर जो ४८ वर्ष हैं वह तृतीय सवन है। (४८ वर्ष इस तरह कि) तृतीय सवन जगती छन्दका होता है और जगती छन्द ४८ अक्षरोंका होता है। इस यज्ञके उस सवनमें आदित्य देवता अधिष्ठाता हैं।

भावार्थ।

इन तीनो मन्त्रोंका यह तात्पर्य है कि; सिद्धि प्राप्त करनेके लिये पुरुष-रूप यज्ञ करना चाहिये। इस यज्ञके मनुष्य-जीवनके पहले २४ वर्ष वसु देवताके परिचयके लिये प्रातः सवन है, अनन्तर के ४४ वर्ष रुद्र शक्तिके परिचयके लिये माध्यन्दिन सवन है, और इसके बादके ४८ वर्ष आदित्य शक्तिके परिचयार्थ तृतीय सवन है। इस तरह पुरुष-यज्ञ ११६ वर्षों में सम्पन्न होता है। सारांश यह कि गार्हस्थ्य जीवन केवल द्रव्यके ऊपर निर्भर है। अतः उसके पहले २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वसु अर्थात् द्रव्य प्राप्तिके लिये साधन स्वरूप विद्यावल आदि अनेक गुणोंको प्राप्त करना ही वसु देवताके परिचयका प्रातः सवन है। उसके बाद गार्हस्थ्यमें प्रवेश करके कामक्रोधादिके वशीभूत होकर कोई असत् कर्म न हो, इस लिये दुष्ट इन्द्रियोंका दमन करनेवाला रुद्ररूप हो जाना रुद्र देवताका परिचायक माध्यन्दिन सवन है। अनन्तर देवमार्गकी प्राप्तिके लिये आदित्योपासनाका तृतीय सवन है।

२४ मन्त्र।

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म-वाक् पादः प्राणः पादः चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतम् अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादौ शिरः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतञ्च। (३। १८। २)

सान्वय पदार्थ।

तत् एतत् (यह) ब्रह्म (व्यापक मन) चतुष्पाद् (चार पैरवाला है) वाक् (वाणी) पादः (प्रथम पाद है) प्राणः (प्राण) पादः (दूसरा पाद है) चक्षुः (चक्षु) पादः (तीसरा पाद है और) श्रोत्रम् (श्रोत्र) पादः (चौथा पाद है) इति (यह) अध्यात्मम् (अध्यात्म, अर्थात् अन्तरंग वर्णन है) अथ (अनन्तर) अधिदैवतम् (अधिदैवत, अर्थात् बाह्य वर्णन किया जाता है) अग्निः (अग्नि) पादः (प्रथम पाद है) वायुः (वायु) पादः (द्वितीय पाद है) आदित्यः (आदित्य) पादः (तृतीय पाद है और) दिशः (दिशाएं) पादः (चतुर्थ पाद हैं) इति (इस प्रकार) उभयम् (दोनो) एव (ही) अध्यात्मम् (अध्यात्म) च (और) एव (ही) अधिदैवतम् (अधिदैवत) आदिष्टम् (उपदिष्ट) भवति (होता है)

सरलार्थ।

वह प्रसिद्ध व्यापक यह मन चार पैरवाला है। वाणी (उसका) प्रथम पाद, प्राण दूसरा पाद, चक्षु तीसरा पाद और श्रोत्र चौथा पाद है। यह अध्यात्म अर्थात् शरीरके

भीतरका वर्णन है। अनन्तर अधिदैवत अर्थात् बाह्य वर्णन होता है। आकाश रूप ब्रह्मके चार पाद हैं अग्नि (उसका) प्रथम पाद, वायु दूसरा पाद, आदित्य तीसरा पाद और दिशाएं (उसका) चतुर्थ पाद हैं। इस प्रकार दोनो ही, अध्यात्म और अधिदैवत-उपदिष्ट होते हैं।

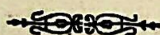
भावार्थ।

इस तरह जो प्राण आदिमें आदित्यकी उपासना करता है, उसे देवयानकी प्राप्ति होती है।

तृतीय अध्याय समाप्त।



अथ चतुर्थ अध्याय ।



प्रथम अध्यायमें प्राणका श्रेष्ठत्व निर्धारित कर उसके रक्षण के लिये अन्नके भक्षण तथा उपार्जनके उपाय दृष्टान्त देकर बताये गये । द्वितीय अध्यायमें ऊर्ध्वलोकसे सूक्ष्म प्राण निकलकर मेघमें आता है, वहांसे वृष्टि होकर भूमिके जलमें आता है, अनन्तर ऋतुकी सहायतासे देहरूप बनकर इन्द्रियरूपसे व्यवहार करता है । अतः क्रमशः लोक, वृष्टि, जल, ऋतु, पशु, और इन्द्रियोंमें पञ्चविध सामकी उपासना दिखाकर वाक् और आदित्यमें विशिष्ट सप्तविध सामोपासना बतलायी गयी । फिर बाईस २२ अक्षरोंमें जो १२ मास ५ ऋतु ३ लोक १ आदित्य और अन्तिम परतत्त्व है, उसकी महिमा बतलाकर ३ तीन धर्मस्कन्धसे तथा प्रातः सवनादि प्रकारसे तत्त्वकी उपासना वर्णन की गयी । एवंरीत्या—उपासकोंको मधुरूप से भोग सामग्रीका सवत्र निर्माण होता है यह दिखलानेके लिये तृतीय अध्यायमें मधुविद्या दिखलाकर वसु, रुद्र तथा विश्वेदेव इनके अधीन दक्षिण मार्गसे ऐश्वर्य पानेवाले जीवका पुनः पित्रादिलोकसे भूलोकमें आगमन होता है और उपासनासे उत्तरमार्ग (देवयान) से आदित्यमण्डलमें प्राप्त होनेवालेका पुनरागमन नहीं होता । अतः उसका उपाय गायत्री विद्यादि तथा पुरुषके आयुमें प्रातः सवनादिकी कल्पना कर पुरुषयज्ञ और चतुष्पाद ब्रह्मका वर्णन किया । अब कर्म दृष्टिवालोंका तेज

केवल भूलोकहीमें रहता है और वह उपासकके तेजकी समानता नहीं कर सकता यह दिखलानेके लिये चतुर्थ अध्यायके आदिमें जानश्रुति और रैक्वका दृष्टान्त देते हैं जिसका मन्त्र यह है :-

१–२ मन्त्र ।

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस, अथह हंसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवं हंसो हंसमभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्षभल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति। (४।१।१।२)

सान्वय पदार्थ ।

जानश्रुतिः (जनश्रुत राजाका) ह (इतिहास प्रसिद्ध) पौत्रायणः (पोता) श्रद्धादेयः (श्रद्धासे देनेवाला) बहुदायी (बहुत देनेवाला) बहुपाक्यः (अतिथि लोगोंके लिये प्रतिदिन विशेष रसोई करानेवाला) आस (था) अथ (अनन्तर) हंसाः (हंस) निशायाम् (रात्रिमें) अतिपेतुः (उपस्थित हुए) तत् (उस समय) हंसः (एक हंस) हंसम् (अन्य हंसको) अभ्युवाद (बोला) होहो (हर्षसे) अयि भल्लाक्ष २ (अरे भल्लाक्ष) जानश्रुतेः पौत्रायणस्य (जनश्रुतके पोतेका) समम् (तुल्य) दिवा (द्युलोकके) ज्योतिः (कीर्ति) आततम् (फैली है) तत् (इसलिये) मा (मत) प्रसाङ्क्षीः (छूओ) तत् (वह तेज) त्वा (तुमको) मा (मत) प्रधाक्षीः (जलावे) ।

भावार्थ ।

जनश्रुत राजाका पोता अत्यन्त श्रद्धासे बहुत देने वाला

अतिथयोंके लिये स्थान २ पर अन्नसत्र चलानेवाला और धर्मशाला बनवानेवाला राजा हुआ। एक दिन ग्रीष्ममें रात्रिके समय हर्म्यतलपर बैठा हुआ था कि इतनेमें इसके धर्माचरणसे प्रसन्न हुए देवता इसके कल्याणार्थ आकाशमें हंसरूप धारण करके इस तरहसे वार्तालाप करने लगे। अरे भल्लाक्ष! जानश्रुतिका तेज धर्माचरणसे स्वर्गतक पहुंचा है; यदि तुम उस तेजको स्पर्श करोगे ता जल जाओगे।

३–६ मंत्र।

तमुह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तंसयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति योनुकथं सयुग्वारैक्व इति। एन सर्वं तदभिसमति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति सह संजिहान। एव क्षत्तारमुवाच। यत्राेऽरे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्छेति। सोऽधस्ताच्छकटस्यपामानं कषमाणमुपापविवेश। (४।१।३।४।५ और ७)

सान्वय पदार्थ।

तं (उस हंसको) उह (इतिहास प्रसिद्ध) परः (दूसरा हंस) प्रत्युवाच (उत्तर देने लगा) अरे (सम्बोधन) कम् उ (तिरस्कार द्योतक) एनम् (इसको) एतत्सन्तम् (अल्प महिमा वालेको) सयुग्वानम् (गाड़ीके नीचे बैठे हुए) रैक्वमिव (महात्मा रैक्वके समान) आत्थ (स्तुति करते हो) यः (जो) नु (प्रश्न) सयुग्वा (शकट चिन्हित) रैक्वउक्तः (रैक्व कहा गया) कथम् (वह महात्मा कैसा है) यत्किंच (जो कुछ) प्रजाः (मनुष्यमात्र) साधु (धर्माचरण) कुर्वन्ति

(करते हैं) तत्सर्वम् (वह सब) एनम् (इसके प्रभावमें) अभिसमैति (अन्तरभूत होता है) सः (वह राजा) ह (इतिहास प्रसिद्ध) संजिहान (जगनेपर) एव (ही) क्षत्तारम् (सारथीको) उवाच (बोला) अरे (सम्बोधन) यत्र (जहां) ब्राह्मणस्य (ब्रह्मर्षियोंकी) अन्वेषणा (खोज होती है) तत् (वहां पर) एनम् (रैक्वको) अर्छ्छ (खोजो) सः (सारथी) शकटस्य (गाड़ीके) अधस्तात् (नीचे) पामानम् (खुजलीको) कषमाणम् (खुजलानेवाले) उप (महर्षिके पास) उपविवेश (बैठा)।

भावार्थ ।

दूसरा हंस उससे कहने लगा इस साधारण राजाकी महात्मा रैक्वके समान तुम क्या स्तुति करते हो। उसने पूछा महात्मा रैक्व कैसा है ? उत्तर—मनुष्यमात्र जो कुछ धर्माचरण करते हैं, वह सबइसके तेजमें छिपा है। यह सुनकर राजा जानश्रुतिने आश्चर्यसे रात्रि बिताकर सवेरे उठते ही सारथीको आज्ञा दी कि जहां महात्मा रैक्व हों खोजो, विशेषतः एकान्त जंगलोंमें जहां महर्षि रहते हैं, वहां खोजो। सारथीने ढूंढ़ते ढूढ़ते निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे खुजलीको खुजलाते हुए महात्मा रैक्वको देखा, तथा निश्चय करके जाकर राजासे कहा।

७—६ मंत्र ।

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरी रथं तदादाय प्रतिचक्रमे त्वं हाभ्युवाद। तुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति। पुनरेव जानश्रुतिः

पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे। (४।२।१—३)

सान्वय पदार्थ।

तत् (उस समय) उह (निश्चय) जानश्रुतिः पौत्रायणः (जनश्रुतका पौत्र) गवाम् (गौओंका) षट्शतानि (छ सैकड़ा) निष्कम् (मोहर) अश्वतरीरथम् (खच्चरोंके रथको) तत् आदाय (इतनी वस्तु लेकर) प्रतिचक्रमे (पहुंचा) तम् (महात्मा रैक्वको) अभ्युवाद (बोला) नु (सोचकर) मे (मुझे) एताम् (इस) देवताम् (देवताको) शाधि (बतलाओ) याम् (जिसको) त्वम् (तुम) उपास्से (उपासना करते हो) पुनरेव (फिरभी) जानश्रुतिः (राजा) गवां सहस्रम् (हजार गायें) निष्कम् (मोहर) अश्वतरीरथम् (खच्चरोंके रथको) दुहितरम् (विवाहयोग्य अपनी कन्याको) तत् (इतनी वस्तु) आदाय (लेकर) प्रतिचक्रमे (पहुंचा)।

भावार्थ।

महात्मा रैक्वका पता लग जानेपर राजा जानश्रुति छ सौ गायें एक सोनेका हार और खच्चरोंका रथ लेकर पहुंचा और नम्रतासे कहने लगा कि हे महाराज आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, कृपा करके उस उपास्य देवताको मुझे बतलाइये। तब महात्मा रैक्वने कहा कि तुम हंसोंके कहनेसे मेरे पास दौड़े हुए आये हो, इसलिये हम तुम्हें विद्याका उपदेश नहीं दे सकते। इतनी वस्तु अर्पण करनेसे भी महात्माको मेरी श्रद्धापर

विश्वास नहीं हुआ। राजाने ऐसा समझ कर फिर भी हजार गायें और विवाह करनेके लिये अपनी कन्या तथा अन्य सामग्री अर्पण कर सद्भावसे महात्माकी शरण ली। तब महात्माने संवर्ग विद्याका उपदेश देकर उसको कृतार्थ किया जो आगेकी मन्त्रांसे बतायी जाती है।

१० मन्त्र।

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति। (४।३।१)

सान्वय पदार्थ।

वायुः (वायु) वाव (ही) संवर्गः (संग्रह करनेवाला या नष्ट करने वाला है) यदा (जब) वै (निश्चय) अग्निः (पदार्थों की दाहक शक्ति) उद्वायति (शान्त होती है) वायुम् (वायुमें) एव (हो) अप्येति (लीन होती है) यदा (जब) सूर्यः (सूय) अस्तम् (अदर्शनको एति (प्राप्त होता है) वायुम् (वायुमें) एव (हो) अप्येति (लोन होता है) यदा (जब) चन्द्रः (चन्द्र) अस्तम् (अदर्शनको) एति (प्राप्त होता है) वायुम् (वायुमें) एव (ही) अप्येति (विलीन होता है)।

सरलार्थ।

वायुही संग्रह करनेवाला या लय करनेवाला है। जब पदार्थों की दाहक शक्ति शान्त हो जाती है, तब (वह) वायुमें ही लीन होती है। जब सूर्य अस्तको प्राप्त होता है, तब (वह)

वायुमें ही लीन होता है। जब चन्द्रमा अस्तको प्राप्त होता है, तब वह वायुमें ही लीन होता है।

११ मन्त्र।

यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति, वायुमेवापियन्ति। वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम्। (४। ३। २)

सान्वय पदार्थ।

यदा (जब) आपः (जल) उच्छुष्यन्ति (सूखता है, तब) वायुम् (वायुमें) एव (ही) अपियन्ति (लीन होता है) हि (क्योंकि वायुः वायु) एव (ही) एतान् (इन) सर्वान् (सबका अर्थात् अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जलका) संवृङ्क्ते (संहार करता है) इति (यह) अधिदैवतम् (अधिदैवत वर्णन है)।

सरलार्थ।

जब जल सूखता है, तब वायुमें ही लीन होता है; क्योंकि वायु ही इन सबका अर्थात् अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जलका संहार करता है। यह अधिदैवत वर्णन है।

१२ मन्त्र।

अथाध्यात्मम्—प्राणो वाव संवर्गः, स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः प्राणोह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इति। (४। ३। ३)

सान्वय पदार्थ

अथ (अब) अध्यात्मम् (उपासनाका वर्णन होता है) प्राणः (मुख्य प्राण) वाव (ही) संवर्गः (लय करनेवाला है)

सः (वह) यदा (जब) स्वपिति (सुषुप्तिमें पहुंचता है,) वाग् (वाणी) प्राणम् (प्राणको) एव (ही) अप्येति (प्राप्त होती है) चक्षुः (चक्षु) प्राणम् (प्राणको) श्रोत्रम् (श्रोत्र) प्राणम् (प्राणको) मनः (मन) प्राणम् (प्राणको ही प्राप्त होता है) हि (क्योंकि) प्राणः (प्राण ही) एतान् (इन) सर्वान् (सबको) संवृङ्क्ते (अपनेमें विलीन करता है) इति (बस)।

सरलार्थ।

अब संवर्ग विद्या वर्णन होता है :—मुख्य प्राण ही लय करनेवाला है। वह (प्राण) जब सुषुप्तिमें पहुंचता है, तब वाणी उसीको प्राप्त होती है। इसी प्रकार, चक्षु (नेत्र) श्रोत्र (कर्ण) और मन भी प्राणहीको प्राप्त होते हैं क्योंकि, प्राण ही इन सबको अपनेमें विलीन करता है।

भावार्थ।

अग्नि आदि सभी वायुमें ही विलीन होते हैं उसी तरह वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियां प्राणमें ही विलीन होती हैं; इसलिये भूतोंमें वायु और शरीरमें प्राण संवर्ग हैं। इस ज्ञानके साथ वायु और प्राणकी उपासना करनेसे देवयानकी प्राप्ति होती है। संवर्गको पुष्ट करनेके लिये आगेका मन्त्र है।

१३ मन्त्र।

तस्मै हो वाच—प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम। (४।५।२)

सान्वय पदार्थ।

तस्मै (उसको अर्थात् सत्यकामको) हउवाच (ऋषभ बोले, ब्रह्मके पादकी) कला (एक कला) प्राची (पूर्व) दिक् (दिशा है) कला (द्वितीय कला) प्रतीची (पश्चिम) दिग् (दिशा है) कला (तृतीय कला) दक्षिणा (दक्षिण) दिग् (दिशा है) कला (चतुर्थ कला) उदीची (उत्तर) दिग् (दिशा है) सोम्य (हे भव्यमूर्ति सत्यकाम) ब्रह्मण: (ब्रह्मका) एष: (यह) चतुष्कल: (चार कलाओंसे युक्त) पाद: (पाद या अंश) प्रकाशवान् नाम (प्रकाशवान् नामसे प्रसिद्ध है)।

सरलार्थ।

सत्यकामसे ऋषभ कहते हैं :—"ब्रह्मके पादकी एक कला पूर्व दिशा है, द्वितीय कला पश्चिम दिशा है, तृतीय कला दक्षिण दिशा है और चतुर्थ कला उत्तर दिशा है। हे भव्य मूर्ति सत्यकाम ब्रह्मका यह चार कलाओंसे युक्त पाद (अंश) प्रकाशवान् नामसे प्रसिद्ध है।"

१४ मन्त्र।

तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत् कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान् नाम। (४। ७। ३)

सान्वय पदार्थ।

तस्मै (उसे) होवाच (कहने लगे) कला (ब्रह्मके पादकी एक कला) अग्निः (अग्नि है) कला (द्वितीय कला) सूर्यः

(सूर्य है) कला (तृतीय कला) चन्द्रः (चन्द्र है और) कला (चतुर्थ कला) विद्युत (विद्युत् है) सोम्य (हे भव्यमूर्ति!) ब्रह्मणः (ब्रह्मका) एषः (यह) चतुष्कलः (चतुष्कल) पादः (स्थान) ज्योतिष्मान् नाम (ज्योतिष्मान् नामका है)।

सरलार्थ।

यह सत्यकामको ऋषभका उपदेश है। ऋषभ सत्यकामसे कहते हैं कि ब्रह्मके पादकी एक कला अग्नि है, द्वितीय कला सूर्य है, तृतीय कला चन्द्र और चतुर्थकला विद्युत् है। हे भव्यमूर्ति सत्यकाम! ब्रह्मका यह चतुष्कल स्थान ज्योतिष्मान् नामका है।

१५ मन्त्र।

तस्मै होवाच—पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैप वै सोम्य, चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम। (४। ६। ३)

सान्वय पदार्थ।

तस्मै (उस सत्यकामसे) ह उवाच (कहने लगे) कला (उस ब्रह्मके पादकी प्रथम कला) पृथिवी (पृथ्वी है) कला (द्वितीय कला) अन्तरिक्षम् (अन्तरिक्ष है) कला (तृतीय कला) द्यौः द्यु लोक है) कला (चतुर्थ कला) समुद्रः (समुद्र है) सोम्य! (हे भव्यमूर्ति!) वै (निस्सन्देह) ब्रह्मणः (ब्रह्मका) एषः (यह) चतुष्कलः (चार कलाओंसे युक्त) पादः (स्थान) अनन्तवान् नाम (अनन्तवान् नामका है)

सरलार्थ।

यह भी सत्यकामको ऋषभका उपदेश है। ऋषभ कहते हैं, "हे सत्यकाम! उस ब्रह्मके पादकी प्रथम कला पृथ्वी है, द्वितीय कला अन्तरिक्ष है, तृतीय कला द्युलोक है और चतुर्थ कला समुद्र है। हे भव्यमूर्ति! निस्सन्देह ब्रह्मका यह चार कलाओंसे युक्त स्थान अनन्तवान् नामका है।"

१५ मन्त्र।

तस्मै होवाच—प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलष वै सोम्य! चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनथवान्नाम॥ (४।८।३)

सान्वय पदार्थ।

तस्मै (उसे) ह उवाच (कहने लगे) कला (उस ब्रह्मके पादकी एक कला) प्राणः (प्राण है) कला (द्वितीय कला) चक्षुः (चक्षु है) कला (तृतीय कला) श्रोत्रम् (श्रोत्र है और) कला (चतुर्थ कला) मनः (मन है) सोम्य! (हे भव्यमूर्त्ति!) ब्रह्मणः (ब्रह्मका) एषः (यह) चतुष्कलः (चारकलाओंसे युक्त) पादः (पाद) आयतनवान्नाम (आयतनवान् नामसे) वै (निश्चय करके, प्रसिद्ध है)।

सरलार्थ।

यह भी ऋषभका सत्यकामको ही उपदेश है। ऋषभ कहते हैं कि हे सत्यकाम! उस ब्रह्मके पादकी एक कला प्राण है, द्वितीय कला चक्षु है, तृतीय कला श्रोत्र है और चतुर्थ

कला मन है। हे भव्यमूर्त्ति ! ब्रह्मका यह चतुष्कल स्थान आयतनवान् नामसे प्रसिद्ध है।

भावार्थ।

ब्रह्मके प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् और आयतनवान् ये चार पाद-विभाग हैं। प्रथममें दिशाएं, द्वितीयमें पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और समुद्र, तृतीयमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् तथा चतुर्थमें प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन हैं। इस प्रकार प्रत्येक में चार-चार कलाएं हैं। एक पाद शरीरमें है। इसके द्वारा देवयानमें पहुंचनेके लिये अग्निविद्या और ब्रह्मयज्ञका उपदेश किया जाता है। यज्ञ तीन प्रकारका है:—द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ। अश्वमेधादि अर्थव्ययकारी द्रव्ययज्ञ, और परमात्म-चिन्तन ज्ञानयज्ञ है। ब्रह्मयज्ञका आगेके मन्त्रोंमें वर्णन किया गया है।

१७ मंत्र।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरान्नमादित्य इति। (४।११।१)

सान्वय पदार्थ।

अथ (अनन्तर) ह एनम् (प्रसिद्ध ब्रह्मचारी उपकोसलको) गार्हपत्यः (गार्हपत्याग्निने) अनुशशास (शिक्षा दी) पृथिवी (पृथ्वी) अग्निः (अग्नि) अन्नम् (अन्न) आदित्यः (आदित्य) (ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं चारोंका पोष्य हूं)।

सरलार्थ ।

उपकोसल नामक ब्रह्मचारीको गार्हपत्याग्निका यह उपदेश है। अग्नि देवता कहते हैं—'पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं चारोंका पोष्य हूं।'

१८ मंत्र ।

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति। (४।१२।१)

सान्वय पदार्थ ।

अथ (अनन्तर) ह एनम (इसी उपकोसलको) अन्वाहार्य-पचनः (दक्षिणाग्निने) अनुशशास (शिक्षा दी) आपः (जल) दिशः (दिशाएं) नक्षत्राणि (नक्षत्र और) चन्द्रमाः (चन्द्रमा, ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं इनका पोष्य हूं।)

सरलार्थ ।

यह उक्त ब्रह्मचारीको दक्षिणाग्निका उपदेश है। अग्नि-देव कहते हैं—'जल, दिशाएं, नक्षत्र और चन्द्रमा ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं इनका पोष्य हूं।'

१९ मंत्र ।

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास-प्राण आकाशो द्यौर्विद्यु दिति। (४।१३।१)

सान्वय पदार्थ ।

अथ (अनन्तर) ह एनम् (इसी ब्रह्मचारीको) आहवनीयः (आहवनीय अग्निने) अनुशशास (शिक्षा दी) प्राणः (प्राण)

आकाशः (आकाश) द्यौः (द्यु लोक और) विद्युत् (विद्युत्—ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं इनका पोष्य हूं)

सरलार्थ ।

यह उक्त ब्रह्मचारीको आहवनीयाग्निका उपदेश है। अग्निदेव कहते हैं,—प्राण, आकाश. द्युलोक और विद्युत् ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं इनका पोष्य हूं।

भावार्थ।

लौकिक और पारलौकिक सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये गार्हपत्य (आदित्याग्नि) दक्षिणाग्नि (विद्युदग्नि) और आहवनीय (पार्थिवाग्नि) अग्निके स्वरूपका परिचय करना चाहिये। यही उपकोसल विद्या है। इससे ब्रह्मयज्ञ होता है। लौकिक-सम्पत्ति से द्रव्य आदि और पारलौकिकसे पितृयानका लाभ होता है। गार्हपत्य वायुप्रधान और सात्विक, दक्षिणाग्नि तेजप्रधान और राजस, तथा आहवनीय जलप्रधान और तामस है। आहवनीय ग्रीष्म-समान संग्रह-कर्त्ता, दक्षिणाग्नि वर्षाऋतु सदृश दाता तथा गार्हपत्य शरद् लक्षण युक्त शान्त है। वायु वक्रगति और व्यापक, अग्नि ऊर्ध्वगति और लघु एवं जल स्थूल और अधोगतिवाला है। ग्रीष्मऋतुमें सूर्यके प्रचण्ड तापसे जब पृथ्वी तप्त हो जाती है, तो इसका जल पार्थिवाग्निके साथ २ वायुको धक्का देता हुआ ऊपरको उठता है; इसी कारण ग्रीष्ममें उष्ण और वेगवान् होकर वायु ही अन्तरिक्षमें पार्थिव जलको एकत्र करके उसे मेघके रूपमें परिणत कर देता है। अर्थात् वायु ही

वाष्परूप बनकर पर्जन्य उत्पन्न करता और सूक्ष्म रूपसे सबमें वर्तमान रहता है। वायु ही यज्ञीय द्रव्यको ऊर्ध्वगति देता है। यज्ञमें प्रथम आहवनीय अग्नि पार्थिव जलरूप हवि आदिका संग्रह करता है। इस प्रकार उत्तरायणमें पृथिवीका जल संगृहीत हो जानेपर घनीभूत होकर मेघ बन जाता है, और सूर्य भी दक्षिणायन हो जाता है तो वही ऊपरका जल क्रमशः तप तप कर पृथिवी पर आजाता है। इस तरह ज्यों ज्यों पृथिवी ठण्डी होती जाती है, त्यों त्यों वायु भी चलानेवालेके अभावसे अपनी स्थिरता प्राप्त करता है। इस प्रकार दो आहुति लग जानेके अनन्तर अन्तरिक्षमें संगृहीत जल पृथिवीमें आकर अन्न रूपमें परिणत होता है; और समस्त प्राणियोंका पोषण करता है। यही ब्रह्मयज्ञ है। इससे पाठकोंको स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि समस्त सृष्टिका बीज-भूत आदित्य ही है; इसलिये इसीकी उपासना हम लोगोंको करनी चाहिये।

इस प्रकार बाहरका यज्ञ बतलाकर शरीरके भीतरका यज्ञ बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरंभ किया जाता है।

२० मंत्र।

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति। यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति, तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी। (४।१६।१)

सान्वय पदार्थ।

ह वै (अति प्रसिद्ध) एषः (यह वायुरूप प्राण) यज्ञः

(यज्ञ है या यज्ञका कारण है) यः (जो) अयम् (यह) पवते (बहता है, या यज्ञीय द्रव्योंको निकट पहुंचाता है) एषः ह (यह प्रख्यात वायु) यन् (इधर उधर घूमता हुआ) इदम् (इस) सर्वम् (स्थावर-जंगम जगत्को) पुनाति (पवित्र करता है) यद् (जिस कारण) एषः (यह) यन् (इधर उधर घूमता हुआ) इदम् (इस) सर्वम् (सम्पूर्ण विश्वको) पुनाति (पवित्र करता है) तस्माद् (इस कारण) एषः (यही) यज्ञः (यज्ञ है) तस्य (उस यज्ञका) मनः (मन ब्रह्मा है) च (और) वाक् (वाणी) च (और) वर्तनी (श्रोत्र और चक्षु—ये तीन ऋत्विक् हैं)।

सरलार्थ।

अति प्रसिद्ध यह वायुरूप प्राण (ही) यज्ञ है। या यज्ञका कारण है। यह जो बहता है या यज्ञीय द्रव्योंको निकट पहुंचाता है, इतस्ततः गमन करता हुआ इस स्थावर-जंगम जगत् को पवित्र करता है। यह जो इतस्ततः गमन करता हुआ सम्पूर्ण विश्वको पवित्र करता है, इस कारण यही यज्ञ है। इस यज्ञका मन ब्रह्मा है, और वाणी, श्रोत्र और चक्षु ये तीन ऋत्विक् हैं।

भावार्थ।

यही अन्तर्यज्ञ या भीतरका यज्ञ है। इसको और स्पष्ट करनेके लिये आगेका मंत्र है।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।

अथ पञ्चम अध्याय ।



१ मन्त्र ।

योह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति । प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति । वाग्वाव वसिष्ठः । यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतिह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च । चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा । यो ह वै सम्पदं वेद संहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च । श्रोत्रं वाव सम्पत् । यो ह वा आयतनं वेद आयतनं ह स्वानां भवति । मनो ह वा आयतनम् । (५ । १ । १—५)

सान्वय पदार्थ ।

यः (जो साधक) ह वै (ही) ज्येष्ठम् (वयसमें वड़े) च (और) श्रेष्ठम् (गुणमें वड़े को) वेद (जानता है, वह) हवै (निश्चय ही) ज्येष्ठः (वयो ज्येष्ठ) च (और) श्रेष्ठः (गुण श्रेष्ठ) भवति (हो जाता है) प्राणः (प्राण) वाव (ही) ज्येष्ठः (वयो ज्येष्ठ) च (और) श्रेष्ठः (गुण-श्रेष्ठ) (है) यः (जो उपासक) ह वै (निश्चय पूर्वक) वसिष्ठम् (वसिष्ठको) वेद (जानता है) (वह) स्वानाम् (अपने वन्धु-बान्धवोंमें) ह (निश्चय ही) वसिष्ठः (वसिष्ठ या पूज्यतम) भवति (होता है) वाग् (वाणी) वाव (ही) वसिष्ठः (वसिष्ठ है) यः (जो उपासक) ह वै (ही) प्रतिष्ठाम् (प्रतिष्ठाको) वेद (जानता है, वह) अस्मिन् (इस

लोकमें) च (और) अमुष्मिन् (उस लोकमें) च (भी) ह (निश्चय ही) प्रति तिष्ठति (प्रतिष्ठा प्राप्त करता है) चक्षुः (नेत्र) वाव (ही) प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठा है) यः (जो उपासक) ह वै (ही) सम्पदम् (सम्पद् नामक पदार्थको) वेद (जानता है) अस्मै (उस उपासकके लिये) दैवाः (दैवी) च (और) मानुषाः (मानवी) च (और) कामाः (मनोरथ) ह (अवश्य ही) सम्पद्यन्ते (उपस्थित होते हैं या प्राप्त होते हैं) श्रोत्रम् (कर्ण) वाव (ही) सम्पद् (सम्पद है) यः (जो साधक) ह वै (ही) आयतनम् (आश्रयको) वेद (जानता है, वह) ह (निश्चय ही) स्वानाम् (अपने बन्धु-बान्धवोंमें) आयतनम् (आश्रय-स्थल) भवति (होता है) मनः (मन वा अन्तःकरण ही) ह वै (ही) आयतनम् (आश्रय-स्थान है)।

सरलार्थ।

जो साधक वयोज्येष्ठ और गुणश्रेष्ठको जानता है, वह निश्चय ही वयोज्येष्ठ और गुणश्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही वयोज्येष्ठ और गुणश्रेष्ठ है। जो साधक वसिष्ठको जानता है, वह अपने बन्धु-बान्धवोंमें वसिष्ठ या पूज्यतम होता है। वाणी ही वसिष्ठ है। जो उपासक प्रतिष्ठाको जानता है वह इस लोकमें और उसलोकमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है। जो उपासक सम्पद् नामक पदार्थको जानता है उसको दैवी और मानवीय मनोरथ प्राप्त होते हैं। कर्ण ही सम्पद् है। जो साधक आश्रयको जानता है, वह अपने

बन्धु-बान्धवोंका आश्रय-स्थान होता है। मन वा अन्तःकरण ही आश्रय-स्थान है।

भावार्थ।

शरीरमें प्राण ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, वाक् वसिष्ठ, चक्षु प्रतिष्ठा, श्रोत्र सम्पत्ति, और मन आयतन है। इनके तत्त्वको जाननेवाला क्रमशः ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, वसिष्ठ, प्रतिष्ठित, सम्पत्तिशाली और आश्रय-दाता होता है।

प्राण—विज्ञान और आदित्य-रहस्यका विवरण बतानेके बाद पंचाग्नि-विद्याका आवश्यक परिचय दिया गया है।

२ मन्त्र।

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव! इति। वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ता ३ इति न भगव! इति। वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति? न भगव! इति। वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यता ३ इति? न भगव! इति। वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्तीति? नैव भगव! इति। (५। ३। २-३)

सान्वय पदार्थ।

वेत्थ (क्या तुम जानते हो) यत् (कि) इतः (यहांसे, इस लोकसे) प्रजाः (प्रजाएं या जीवात्माएं) अधिप्रयन्ति इति (कहां जाती हैं?) (इसके उत्तरमें श्वेतकेतुने कहा) न भगव! (नहीं भगवन्! मुझे नहीं मालूम) (फिर जैवलि राजाने दूसरा प्रश्न किया) वेत्थ (क्या जानते हो) यथा (कैसे) पुनः (फिर

आवर्तन्ते ? (लौटती हैं ?) (श्वेतकेतुने कहा) न भगवन् ! (नहीं महाराज !) (फिर जैवलि राजाने तीसरा प्रश्न किया, हे श्वेत-केतु !) वेत्थ (क्या जानते हो) देवयानस्य (देवयान) च (और) पितृयाणस्य (पितृयानके) पथोः (मार्गोंका) व्यावर्तना (परस्पर वियोग स्थान क्या है ?) (उसने उत्तर दिया) न भगवन् ! इति (नहीं भगवन् ! मैं नहीं जानता) (राजाने फिर प्रश्न किया) यथा (जिस प्रकार) असौ (यह) लोकः (मृत्युके बाद रहनेका जीव-लोक) न (नहीं) सम्पूर्यते (जनाकीर्ण हो जाता है) वेत्थ (तुम जानते हो ?) (उत्तर मिला) न भगव ! इति (नहीं महाराज ! मैं नहीं जानता) (फिर राजाने पांचवीं बार पूछा) यथा (जिस प्रकार) पञ्चम्याम् (पांचवीं) आहुतौ (आहुतिमें) आपः (जल) पुरुष वचसः (जीव-संज्ञक) भवन्ति (होना है) (अर्थात् जल ही पुरुष कहलाने लगता है) इति वेत्थ (क्या तुम यह जानते हो ?) (श्वेतकेतु उत्तर देते हैं) न भगवन् ! इति (भगवन ! मैं नहीं जानता)।

सरलार्थ।

राजा वा प्रवाहण जैवलि श्वेतकेतुसे पूछते हैं, "क्या तुम जानते हो, प्रजाएं या जीवात्माएं यहांसे कहां जाती हैं ?" श्वेतकेतु उत्तर देते हैं, 'नहीं भगवन् ! मैं नहीं जानता'। फिर जैवलि पूछते हैं, "क्या तुम जानते हो (वे) फिर किस प्रकार लौटती हैं ?" श्वेतकेतु कहते हैं, 'नहीं महाराज ! मैं नहीं जानता'। जैवलि राजा तीसरी बार प्रश्न करते हैं.

"क्या तुम जानते हो, देवयान और पितृयानके मार्गांका परस्पर बियोगस्थान क्या है?" श्वेतकेतु कहते हैं, 'नहीं, मैं नहीं जानता'। राजा फिर चौथी बार प्रश्न करते हैं, "क्या तुम जानते हो, मृत्युके बाद रहनेका जीव-लोक क्यों जनाकीर्ण नहीं हो जाता?" श्वेतकेतु यही कहते हैं, 'महाराज! मैं नहीं जानता'। फिर राजा पांचवीं बार पूछता है, "क्या तुम जानते हो, पांचवीं आहुतिमें जल जीवसंज्ञक क्यों होता है? अर्थात् पुरुष क्यों कहाने लगता है" श्वेतकेतु फिर भी यही उत्तर देते हैं 'भगवन्! मैं नहीं जानता'।

भावार्थ।

समावर्तनके समय अपने पितासे अनेक विद्याओंको सीखे हुए श्वेतकेतुसे प्रवाहण जैवलिने पांच प्रश्न पूछे, उनमेंसे किसीका उत्तर न देते हुए उसने आरुणि नामक अपने पितासे पूछा, पिता जो मुझे आपने क्या सिखाया पिताने उत्तर दिया कि प्रियपुत्र मुझे मालूम न था यह कह कर, आरुणिने राजा प्रवाहणके घर पर जाकर उन पांच प्रश्नोंका उत्तर समझानेके लिये उनसे प्रार्थना की तब राजाने क्रमसे पूर्व चारों प्रश्नोंका उत्तर देकर पञ्चम प्रश्नका उत्तर यह दिया :—

३ मंत्र।

इतितु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति। (५।९।१।)

सान्वय पदार्थ !

इति (इस प्रकार) तु (निश्चय) पञ्चम्यां (पांचवी) आहुतौ (आहुतिमें) आपः (जल) पुरुष वचसः (पुरुष संज्ञक) भवन्ति (होता है)

सरलार्थ—भावार्थ

पंचाग्नि-विद्यामें पांचवी आहुतिमें पुरुष बनता है। द्यौ, पर्जन्य, पृथिवो, पुरुष और स्त्री—ये पांच आहुतियां हैं। द्यु लोक से भाप निकल कर अन्तरिक्ष आदिमें क्रमशः स्थूल होतो है, जिससे मेघ, अन्न और भूतोंको सृष्टि होतो है। अथवा गार्हपत्याग्निकी भाप अन्तरिक्षसे पृथिवीमें आती है, जिससे अन्न होता है ; और वही वीर्य-रूप होकर पुरुषमें स्थित होता है, तथा स्त्रः-संगम होनेपर प्रजाकी उत्पत्ति करता है।

आगे व्यापक ब्रह्माण्डपुरुषको सृष्टि कही गयी है :—

४ मन्त्र ।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य पचन आस्यमाहवनीयः। (५।१८।२)

सान्वय पदार्थ।

तस्य (उस) ह वै (परम प्रसिद्ध) एतस्य (इस) आत्मनः (व्यापक) वैश्वानरस्य (वैश्वानरका) सुतेजाः (तेजःशालो द्यु लोक ही) मूर्धा (मस्तक) एव (स्वरूप है) विश्वरूपः

(सूर्य) चक्षुः (नेत्र-स्वरूप है) पृथग्वर्त्मात्मा (नाना पथगामी वायु) प्राणः (प्राण स्वरूप है) बहुलः (आकाश) सन्देहः (देहका मध्य भाग है) रयिः (धन या जल) एव (ही) वस्तिः (मूत्र-संग्रहस्थान स्वरूप है) पृथिवी (पृथिवी) एव (ही) पादौ (चरण है) वेदिः (यज्ञ वेदि) एव (ही) उरः (वक्षःस्थल स्वरूप है) बर्हिः (यज्ञ-कुश ही) लोमानि (रोमरूप हैं) गार्हपत्यः (गार्हपत्याग्नि ही) हृदयम् (हृदय-स्वरूप है) अन्वाहार्यपचनः (दक्षिणाग्नि) मनः (मनः स्वरूप है) आहवनीयः (आहवनीय) आस्यम् (मुख स्वरूप है)।

सरलार्थ।

उस परम प्रसिद्ध व्यापक वैश्वानरका तेजशाली द्यु-लोक (ही) मस्तक है; सूर्य्य ही नेत्र है; नानापथगामी वायु प्राण है; आकाश देहका मध्य भाग है; जल मूत्र-संग्रह स्थान है; पृथिवी चरण है; यज्ञवेदि वक्षस्थल है; यज्ञ-कुश रोम है; गार्हपत्याग्नि हृदय है; दक्षिणाग्नि मन है; और आहवनीय मुख है।

भावार्थ।

वैश्वानर-विराट् ब्रह्मकी तीन लोकोंमें सत्ता पर्याप्त है। उनमें द्यौ मस्तक है और पृथिवी पाद है, और बीचमें सूर्यादिक चक्षुरादि अंग है,

अब पञ्चाग्निहोत्र विद्याकी विधि और महिमा लिखी जाती है।

५ मन्त्र।

तद्यद् भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं, स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति, प्राणस्तृप्यति। (५।१९।१)

सान्वय पदार्थ।

तत् (इस कारण) प्रथमम् (पहले) यत् (जो) भक्तम् (अन्न) आगच्छेत् (उपस्थित हो) तत् (उसे) होमीयम् (होमके योग्य समझना चाहिये) सः (वह, भोक्ता, खानेवाला) याम् (जिस) प्रथमाम् (पहली) आहुतिम् (आहुतिका) जुहुयात् (होम करे) ताम् (उसे) प्राणाय स्वाहा इति (प्राणाय स्वाहा कह कर) जुहुयात् (होम करे) (इससे) प्राणः (पांच वृत्ति वाला वायु) तृप्यति (तृप्त होता है)

सरलार्थ।

इस कारण पहले जो अन्न सामने आवे उसे होमके योग्य समझना चाहिये। भोक्ता जिस पहली आहुतिका भोग करे, उसका 'प्राणाय स्वाहा' यह मन्त्र कहकर होम करे। इससे पांच वृत्तिवाला वायु तृप्त होता है।

६ मन्त्र।

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति, चक्षुषि तृप्यति आदित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। (५।१९।२)

सान्वय पदार्थ।

प्राणे (प्राणके) तृप्यति (तृप्त होनेपर) चक्षुः (नेत्र) तृप्यति (तृप्त होता है) चक्षुषि (नेत्रके) तृप्यति (तृप्त होने पर) आदित्यः (आदित्य) तृप्यति (तृप्त होता है) आदित्ये (आदित्यके) तृप्यति (तृप्त होने पर) द्यौः (द्यु लोक) तृप्यति (तृप्त होता है) दिवि (द्यु लोकके) तृप्यन्त्याम् (तृप्त होने पर) यत्किञ्च (जिस किसी पदार्थको) द्यौः (द्यु लोक) च (और) आदित्यः (आदित्य) च (और) अधितिष्ठतः (अधिकारमें रखते हैं) तत् (वह) सर्वम् (सब) तृप्यति (तृप्त होता है) तस्य (इस पदार्थकी) तृप्तिम् (तृप्तिके) अनु (वाद) (भोक्ता भी) प्रजया (सन्ततिसे) पशुभिः (पशुओंसे) अन्नाद्येन (दैहिक) तेजसा (कान्तिसे) च (और) ब्रह्मवर्चसेन (ब्रह्मतेजसे) तृप्यति (तृप्त होता है) इति (यह फल है)

सरलार्थ।

प्राणके तृप्त होनेपर नेत्र तृप्त होता है; नेत्रके तृप्त होनेपर आदित्य तृप्त होता है; आदित्यके तृप्त होने पर द्यु लोक तृप्त होता है; द्यु लोकके तृप्त होने पर जिस किसी पदार्थको द्यु लोक और आदित्य अपने अधिकारमें रखते हैं, वह तृप्त होता है; इस पदार्थकी तृप्तिके वाद भोक्ता भी सन्तति, पशु, शारीरिक तेज तथा विद्याजनित मानसिक तेजसे तृप्त होता है।

७ मन्त्र।

अथ यां द्वितीयां जुहुयात् तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति, व्यानस्तृप्यति। (५। २०। १)

सान्वय पदार्थ ।

अथ (अनन्तर) याम् (जिस) द्वितीयाम् (द्वितीय आहुतिको) जुहुयात् (भोक्ता हवन करे) ताम् (उस आहुतिको) व्यानाय स्वाहा इति (व्यानाय स्वाहा यह मन्त्र कहकर) जुहुयात (हवन करे) (इससे) व्यानः (व्यान) तृप्यति (तृप्त होता है)

सरलार्थ ।

अनन्तर भोक्ता जिस द्वितीय आहुतिका हवन करे, उसे 'व्यानाय स्वाहा' यह मन्त्र पढ़कर हवन करे इससे व्यान तृप्त होता है।

८ मन्त्र ।

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति, श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति, चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति, दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। (५।२०।२)

सान्वय पदार्थ ।

व्याने (व्यान वायुके) तृप्यति (तृप्त होने पर) श्रोत्रम् (कर्णेन्द्रिय) तृप्यति (तृप्त होती है) श्रोत्रे (श्रोत्रके) तृप्यति (तृप्त होने पर) चन्द्रमाः (चन्द्र) तृप्यति (तृप्त होता है) चन्द्रमसि (चन्द्रके) तृप्यति (तृप्त होने पर) दिशः (दिशाएं) तृप्यन्ति (तृप्त होती हैं) दिक्षु (दिशाओंके) तृप्यन्तीषु (तृप्त होने पर) यत् किञ्च (जिस किसी पदार्थको) दिशः (दिशाएं) च (और) चन्द्रमाः (चन्द्र) अधितिष्ठन्ति (अपने अधिकारमें रखते हैं) तत् (वह

सब) तृप्यति (तृप्त होता है) तस्य (उस पदार्थको) तृप्तिम् (तृप्तिके) अनु (बाद) (भोक्ता) प्रजया (सन्ततिसे) पशुभिः (पशुओंसे) अन्नाद्येन (शारीरिक) तेजसा (तेजसे) च (और) ब्रह्मवर्चसेन (विद्याध्ययनादिजनित मानसिक तेजसे) तृप्यति (तृप्त होता है)

सरलार्थ।

व्यान वायुके तृप्त होनेपर कर्णेन्द्रिय तृप्त होती है; कर्णेन्द्रियके तृप्त होनेपर चन्द्रमा तृप्त होता है; चन्द्रमाके तृप्त होने पर दिशाएं तृप्त होती हैं; दिशाओंके तृप्त होने पर जिस पदार्थको ये दिशाएं तथा चन्द्रमा अपने अधिकारमें रखते हैं वह तृप्त होता है; उस पदार्थकी तृप्तिके बाद भोक्ता सन्तति, पशुओं, शारीरिक तेज तथा विद्याध्ययनादिसे उत्पन्न हुए मानसिक तेजसे तृप्त होता है।

९ मन्त्र।

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति। (५। २१। १)

सान्वय पदार्थ।

अथ (अनन्तर) याम् (जिस) तृतीयाम् (तृतीय आहुतिको) जुहुयात् (होम करे) ताम् (उस आहुतिको) अपानाय स्वाहा इति ('अपानाय स्वाहा' यह मन्त्र पढ़ कर) जुहुयात् (होम करे) (इससे) अपानः (अपान वायु) तृप्यति (तृप्त होता है)।

सरलार्थ ।

अनन्तर जिस तृतीय आहुतिको होम करे उसे 'अपानाय स्वाहा' यह मन्त्र पढ़कर होम करे। इससे अपान वायु तृप्त होता है।

१० मन्त्र ।

अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति, वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। (५।२१।२)

सान्वय पदार्थ ।

अपाने (अपान वायुके) तृप्यति (तृप्त होने पर) वाक् (वाणी) तृप्यति (तृप्त होती है) वाचि (वाणीके) तृप्यन्त्याम् (तृप्त होनेपर) अग्निः (अग्नि) तृप्यति (तृप्त होता है) अग्नौ (अग्निके) तृप्यति (तृप्त होने पर) पृथिवी (पृथ्वी) तृप्यति (तृप्त होती है) पृथिव्याम् (पृथ्वीके) तृप्यन्त्याम् (तृप्त होनेपर) यत्किञ्च (जिस किसी पदार्थको) पृथिवी च (पृथ्वी और) अग्निश्च (अग्नि) अधितिष्ठतः (अधिकारमें रखते हैं) तत् (वह) तृप्यति (तृप्त होता है) तस्य (उस पदार्थको) तृप्तिम् (तृप्तिके) अनु (पीछे भोक्ता भी) प्रजया (सन्तानसे) पशुभिः (पशुओंसे) अन्नाद्येन (शारीरिक) तेजसा (तेज या बलसे) च (और) ब्रह्मवर्चसेन (विद्याध्ययनादिसे उत्पन्न होनेवाले मानसिक तेजसे) तृप्यति (तृप्त होता है)।

सरलार्थ।

अपान वायुके तृप्त होनेपर वाणी तृप्त होती है; वाणीके तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होता है; अग्निके तृप्त होनेपर पृथिवी तृप्त होती है; पृथिवीके तृप्त होनेपर, जिस पदार्थको पृथिवी और अग्नि अपने अधिकारमें रखते हैं वह तृप्त होता है। उस पदार्थके तृप्त होनेपर (स्वयं भोक्ता) सन्तान, पशुओं, शारीरिक कान्ति या बल तथा विद्यादिजनित मानसिक तेजसे तृप्त होता है।

११ मन्त्र।

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात् समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति।

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति, मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति, पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति, विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतः तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। (५।२२।१-२)

सान्वय पदार्थ।

अथ (अनन्तर) याम् (जिस) चतुर्थीम् (चौथी आहुतिको) जुहुयात् (होम करे) ताम् (उस आहुतिको) समानाय स्वाहा ('समानाय स्वाहा') इति (यह कह कर) जुहुयात् (होम करे) (इससे) समानः (समान वायु) तृप्यति (तृप्त होता है)।

समाने (समान वायुके) तृप्यति (तृप्त होनेपर) मनः

(मन या अन्तःकरण) तृप्यति (तृप्त होता है) मनसि (मनके) तृप्यति (तृप्त होनेपर) पर्जन्यः (पर्जन्य) तृप्यति (तृप्त होता है) पर्जन्ये (पर्जन्यके) तृप्यति (तृप्त होनेपर) विद्युत् (बिजली) तृप्यति (तृप्त होती है) विद्युति (बिजलीके) तृप्यन्त्याम् (तृप्त होनेपर) यत्किञ्च (जिस पदार्थको) विद्युत् (बिजली) च (और) पर्जन्यश्च (पर्जन्य) अधितिष्ठतः (अपने अधिकारमें रखते हैं) तत् (वह) तृप्यति (तृप्त होता है) तस्य (उस पदार्थकी) तृप्तिम् (तृप्तिके) अनु (पीछे स्वयं भोक्ता) प्रजया (सन्तानसे) पशुभिः (पशुओंसे) अन्नाद्येन (शारीरिक) तेजसा (कान्ति या बलसे) ब्रह्मवर्चसेन (विद्याध्ययनादि जनित मानसिक तेजसे) तृप्यति (तृप्त होता है)।

सरलार्थ।

अनन्तर जिस चौथी आहुतिको होम करे उसे 'समानाय स्वाहा' यह मंत्र पढ़ कर होम करे। इससे समान वायु तृप्त होता है।

समान वायुके तृप्त होनेपर मन तृप्त होता है; मनके तृप्त होनेपर पर्जन्य तृप्त होता है; पर्जन्यके तृप्त होनेपर बिजली तृप्त होती है; बिजलीके तृप्त होनेपर, जिस पदार्थको विद्युत् और पर्जन्य अपने अधिकारमें रखते हैं, वह तृप्त होता है। उस पदार्थके तृप्त होनेके पीछे (स्वयं भोक्ता) सन्तान, पशुओं, शारीरिक कान्ति या बल तथा विद्याध्ययनादि जनित मानसिक तेजसे तृप्त होता है।

१२ मन्त्र ।

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेति उदान स्तृप्यति । (५ । २३ । १)

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति, त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति, वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किञ्च वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिम् तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति । (५ । २३ । २)

सान्वय पदार्थ ।

अथ (अनन्तर) यां (जिस) पञ्चमीम् (पांचवीं आहुतिको) जुहुयात् (होम करे) ताम् (उस आहुतिको) उदानाय स्वाहा इति ('उदानाय स्वाहा' यह मन्त्र कहकर) जुहुयात् (होम करे) (इससे) उदानः (उदान वायु) तृप्यति (तृप्त होता है) ।

उदाने (उदान वायुके) तृप्यति (तृप्त होनेपर) त्वक् (त्वगिन्द्रिय या स्पर्शेन्द्रिय) तृप्यति (तृप्त होता है) त्वचि (त्वगिन्द्रियके) तृप्यन्त्यां (तृप्त होनेपर) वायुः (वायु) तृप्यति (तृप्त होता है) वायौ (वायुके) तृप्यति (तृप्त होनेपर) आकाशः (आकाश) तृप्यति (तृप्त होता है) आकाशे (आकाशके) तृप्यति (तृप्त होनेपर) यत् किञ्च (जो कुछ या जिस पदार्थको) वायुश्च (वायु और) आकाशश्च (आकाश) अधितिष्ठतः (अपने अधिकारमें रखते हैं) तत् (वह पदार्थ) तृप्यति (तृप्त होता है) तस्य (उस पदार्थकी) तृप्तिम् (तृप्तिके) अनु (पीछे स्वयं भोक्ता) प्रजया (सन्तानसे) पशुभिः (पशुओंसे) अन्नाद्येन

(शारीरिक) तेजसा (बल या कान्तिसे) (और) ब्रह्मवर्चसेन (विद्याध्ययनादि जनित मानसिक तेजसे) तृप्यति (तृप्त होता है) ।

सरलार्थ ।

अनन्तर जिस पांचवीं आहुतिको होम करे उसे 'उदानाय स्वाहा' यह मन्त्र पढ़ कर होम करे । इससे उदान वायु तृप्त होता है ।

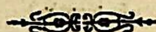
उदान वायुके तृप्त होनेपर त्वागिन्द्रिय वा स्पर्शेन्द्रिय तृप्त होती है, त्वागिन्द्रियके तृप्त होनेपर वायु तृप्त होता है; वायु तृप्त होनेपर आकाश तृप्त होता है, आकाशके तृप्त होनेपर वायु और आकाश, जिस पदार्थको अपने अधिकारमें रखते हैं, वह तृप्त होता है, इस पदार्थकी तृप्तिके पीछे (स्वयं भोक्ता) प्रजा, पशुओं, शारीरिक तेज या बल तथा विद्यादि जनित मानसिक तेजसे तृप्त होता है ।

यह विषय बहुत मनन करने योग्य है । प्राणाग्निहोत्रसे जड़ चेतन सबको तृप्त करलेनेके बाद साधक शान्त गंभीर बन जाता है ।

पञ्चम अध्याय समाप्त ।



अथ षष्ठअध्याय।



इसके अनन्तर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति और उसके फल श्वेतकेतु और उसके पिता आरुणीके संवाद रूपमें दिखाये गये हैं। श्वेतकेतु पूछता है :—

१ मंत्र।

येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथन्नु भगवः स आदेशो भवतीति ? (६।१।३)

सान्वय पदार्थ।

येन (जिस आदेश या उपदेशके सुननेसे) अश्रुतम् (न सुना हुआ) श्रुतम् (सुना हुआ) भवति (हो जाता है) अमतम् (विना विचारा हुआ) मतम् (विचारा हुआ हो जाता है) अविज्ञातम् (विना जाना हुआ) विज्ञातम् (जाना हुआ हो जाता है) इति (इस प्रकार श्वेतकेतुसे उसके पिता आरुणीने प्रश्न किया कि क्या तूने अपने गुरूसे ऐसा उपदेश सुना है, जिसके सुननेसे अश्रुत श्रुत हो जाता है ? इत्यादि यह सुनकर श्वेतकेतु कहता है) भगवन् (हे पूज्य पिता !) सः (वह) आदेशः (उपदेश) कथन्नु (किस प्रकार) भवति (है) इति (इस प्रकार)

सरलार्थ।

श्वेतकेतुसे उसके पिता आरुणीने प्रश्न किया, क्या तूने अपने आचार्यसे ऐसा उपदेश पाया या सुना है, जिसके

सुननेसे न सुना हुआ सुना हुआ, विना विचारा हुआ विचारा हुआ, विना जाना हुआ जाना हुआ, हो जाता है? (यह सुनकर श्वेतकेतु कहता है, हे पूज्य पिता! वह उपदेश किस प्रकारका है?)

४ मंत्र ।

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । (६ । १ । ४ ।)

सान्वय पदार्थ ।

सौम्य (हे भव्यमूर्त्ति श्वेतकेतु !) यथा (जैसे) एकेन (एक) मृत्पिण्डेन (मिट्टीके ज्ञानसे) सर्वम् (सब) मृन्मयम् (मृत्तिकाकी बनी चीज़ें) विज्ञातम् (विदित) स्यात् (हो जाती हैं, क्योंकि) वाचारम्भणम् (वचनोंका आरम्भ रूप) वाचा (शब्द मात्रसे) नामधेयम् (और नाममात्र) विकारः (विकार वा कार्य है) मृत्तिका (मिट्टी) इत्येव (यही) सत्यम् (सत्य है)।

सरलार्थ ।

पिता बोले, "हे प्रियदर्शन श्वेतकेतु! मिट्टीके एक गोलेके ज्ञानसे जिस प्रकार मिट्टीकी बनी सब चीजें विदित होती हैं; क्योंकि विकार या कार्य शब्दमात्र वा नाम मात्र हैं; मृत्तिका ही सत्य है।"

भावार्थ ।

जिस प्रकार एक मृत्तिकाको जाननेसे सभी मृत्विकार ज्ञात

होते हैं, उसी तरह एक ब्रह्मको जाननेसे सभी पदार्थ विदित हो जाते हैं। इसी तरह जितने पदार्थ तुम देख रहे हो, वे सब नाम रूपके भेदसे अनन्त ज्ञान होते हैं। यदि सबके नाम-रूप अलग कर दिये जायं, तो केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। इसके जाननेपर कोई अन्य वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती।

वह क्या है और उसकी सत्ता किस तरह समस्त संसारमें सदासे वर्तमान है, यह सिद्ध किया जाता है।

३ मंत्र।

सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। (१।३।४।)

सान्वय पदार्थ।

सौम्य (हे श्वेतकेतु!) तु (परन्तु) अग्रे (आगे सृष्टिके पूर्व) एकम् (एक) एव (ही) अद्वितीयम् (अद्वितीय) इदम् (यह प्रत्यक्षवद् भासमान संसार) सद् (कारण रूप ब्रह्म) एव (ही) आसीत् (था) इति ह उवाच (यह आरुणी बोले) तत् (उस ब्रह्मने) ऐक्षत (ज्ञान-रूप संकल्प किया कि) एकोऽहम् (एक ही रहकर मैं) बहु (बहुत) स्याम् (हो जाऊं) (अर्थात्) प्रजायेय (मैं जगत्का सृजन करूं) इति (ऐसा संकल्प होनेसे) (उसे स्फूर्त्ति हुई स्फूर्त्ति होनेसे वायु चला और उससे) तत् (उस ब्रह्मने) तेजः (तेजको) असृजत (उत्पन्न किया) तत् (उस)

तेजः (तेजोरूपने) ऐक्षत (ज्ञानरूप संकल्प किया) बहु (बहुत) स्याम् (बनूं) (अर्थात्) प्रजायेय (जगत्का सृजन करूं) इति (यह संकल्पकर) तत् (उस ब्रह्मने) अपः (जलका) असृजन्त (सृजन किया) ताः (उस) आपः (जलरूपने) ऐक्षन्त (ज्ञानरूप संकल्प किया कि) बह्व्यः (अनेक) स्याम (बनूं) (अर्थात) प्रजायेमहि (मैं जगत्का सृजन करूं) (ऐसा संकल्प कर) ताः (उस जलरूपने) अन्नम् (पृथिवीको) असृजन्त (बनाया)

सरलार्थ।

आरुणी बोले, 'हे श्वेतकेतु! सृष्टिके पूर्व यह प्रत्यक्षकी भांति भासमान् संसार, एक ही, अद्वितीय कारणरूप ब्रह्म था। उस ब्रह्मने ज्ञानरूप संकल्प किया कि मैं एक ही रहकर बहुत हो जाऊं; अर्थात् मैं जगत्की रचना करूं। इस संकल्पसे उसे स्फूर्ति हुई। उस स्फूर्तिसे वायु चला और उससे उस ब्रह्मने तेजको उत्पन्न किया। उस तेजोरूपने ज्ञान-रूप संकल्प किया कि मैं बहुत बन जाऊं; अर्थात् जगत्की रचना करूं। यह संकल्प कर उस तेजोरूप ब्रह्मने जल बनाया। उस जलरूपने ज्ञानरूप संकल्प किया कि अनेक बन जाऊं; अर्थात् जगत्की सृष्टि करूं। यह संकल्प कर उस जलरूप ब्रह्मने पृथिवीको बनाया।

भावार्थ।

सृष्टिके पहले सत्-रूप ब्रह्म था। उसने इच्छाकी कि मैं एक

रहकर भी अनेक बन जाऊं; इस लिये उसका स्पन्दन वायुरूप हो गया। वह तेजोरूप हो गया। पश्चात् तेजसे जल, जलसे पृथिवी आदि बने और तदनन्तर क्रमशः देवलोक, पितृलोक तथा भूलोककी सृष्टि हुई। इस प्रकार विचारनेसे वह ब्रह्म ही एक मात्र जाननेका चीज है, जिसके ज्ञानसे सब कुछ जाना जाता है।

षष्ठ अध्याय समाप्त



अथ सप्तम अध्याय

—o—

अबतक उत्तम अधिकारीको एक विज्ञानसे सब विज्ञान प्रतिज्ञादि उपायसे आत्मबोधका प्रकार दिखलाया गया। अब मध्यम अधिकारीको भी उसकी बुद्धिके अनुसार कैसा उपदेश करना चाहिये यह सनत्कुमार नारदका दृष्टान्त देकर बतलाते हैं जिसका यह निम्न लिखित मंत्र है :—

१ मन्त्र ।

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं नामवा ऋग्वेदः। अस्ति भगवो नाम्नोभूयः। वाग्वाव नाम्नो भूयसी। मनो वाव वाचोभूयः। संकल्पो वाव मनसो भूयान्। इत्यादि
(७।१।१—२, ७।१।४-५,।७।२।१, ७।३।१, ७। ४।१)

सान्वय अर्थ।

भगवः (भगवन् सनत्कुमार) अधीहि (हमको ज्ञान दीजिये) इति (ऐसी प्रार्थना करते हुए) नारदः (नारदमुनि) सनत्कुमारं (सनत्कुमारकी) उपससाद (शरण आये), ह (ऐतिह्य) स (सनत्कुमारजीने) तं (उन नारदजीसे) उवाच (कहा), यत

(जो) वेत्थ (जानते हो) तेन (उससे) मां (हमको) उपसीद (जितना समझा है सो कहो), तेन उर्ध्वं (इसके बाद) ते (तुमसे) वक्ष्यामि (कहेंगे) इति (इस प्रकार सनत्कुमारकी बात सुनकर) सः (नारदजीने) उवाच (कहा) भगवः (भगवन्) अहं (मैंने) ऋग्वेदं (ऋग्वेदको) यजुर्वेदं (यजुर्वेदको) सामवेदं (सामवेदको) चतुर्थं (चौथे) अथर्वणं (अथवर्णको) पञ्चमं (पांचवे) इतिहासपुराणं (इतिहास पुराणको) अध्येमि (पढ़ा है) सनत्कुमारने कहा, "ऋग्वेदः (ऋग्येदादि जो तुमने पढ़े हैं) नाम (शब्दमात्र है) वा (निश्चय) भगवः (भगवन्) नाम्नः (शब्दसे) भूयः (बढ़कर) अस्ति (है, क्या) वाग् (वागिन्द्रिय) नाम्ना (नामसे) भूयसी (बड़ी है) वाव (निश्चय) उससे कोई बड़ा है " वाचः (वागिन्द्रियसे) मनः (मनः) भूयः (बड़ा है) " उससे कोई" बड़ा है) मनसः (मनसे) चिकीर्षा बुद्धि, (उससे) संकल्पः (कर्तव्याकर्तव्यविभाग) भूयान् (बड़ा है)

भावार्थ।

देवर्षि नारदने भगवान् सनत्कुमारकी शरणमें जाकर ज्ञानोपदेशकी प्रार्थना की। तुमने क्या क्या पढ़ा है यह पहले हमको बताओ ऐसी भगवान् सनत्कुमारकी आज्ञा पाकर नारदजीने कहा, "मैंने चारो वेद तथा इतिहास पुराणादि १४ विद्याएं सांगोपांग पढ़ी हैं।" इसपर सनत्कुमारजी बोले, "यह केवल शब्दमात्र है।" नारदजीने कहा इससे जो बड़ा हो सो क्रमशः हमसे कहिये, तब सनत्कुमारजीने कहा कि शब्दसे वागिन्द्रिय, उससे चिकीर्षाबुद्धि, उससे

कर्तव्याकर्तव्यविभाग, उससे प्राप्त कालके अनुरूप स्फुरण, उससे एकाग्रता, उससे शास्त्रजन्यज्ञान, उससे भी मानस बल ये अध्यात्मसे क्रमशः बड़े हैं। कारण यह है कि पूर्व पूर्व उत्तरोत्तरके अधीन हैं। इन सबको सुरक्षित चलानेके लिये आधिभौतिकमें अन्न बड़ा, उससे वृष्टि जल, उससे वायुसहित तेज, उससे आकाश ये क्रमशः बड़े और पूर्व पूर्वके कारण हैं। ये बाह्य पांचो भोग्य अन्तस्थ स्मरण-शक्तिसे सम्पन्न पुरुषके लिये सुखप्रद होते हैं, नहीं तो दुःखद होते हैं। इसलिये इनसे अन्तस्थ स्मरण शक्ति बड़ी है। उससे भी आका-ङ्क्षा बड़ी है। इन सबको चलानेवाला प्राण है। इसलिये सबसे श्रेष्ठ प्राण है। प्राण चले जानेपर शरीर शव हो जाता है। इस प्राणसे पूर्वसिद्ध जो सत्ता है वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही सर्व-श्रेष्ठ और बड़ी है जिसमें किसी व्यवहारका अवसर नहीं है। उसीके ज्ञानसे मोक्ष है। इसी निश्चयसे नारदजी कृतकृत्य हुए।

सप्तम अध्याय समाप्त।



अथ अष्टम अध्याय



आठवें अध्यायके चौथे खण्डमें ब्रह्मलोककी प्राप्तिका उपाय "तंह एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति" इत्यादि मन्त्रोंसे ब्रह्मचर्य बतलाया गया है। पांचवें खण्डमें उसका लक्षण तथा महिमा बतायी गयी है। यद्यपि अन्यान्य ग्रन्थकारोंने ब्रह्मचर्यका लक्षण अनेक प्रकारसे किया है, तथापि सबका निचोड़ यही है और उपनिषदोंसे सिद्ध भी होता है कि बाह्य तथा आभ्यन्तरके विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको खींचकर मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए श्रुति तथा स्मृतिमें कहे हुए मार्गपर विश्वास रखकर शुद्ध हृदयसे यज्ञ सम्बन्धी कर्म करना ही ब्रह्मचर्य है और यही ब्रह्मलोकप्राप्तिका एकमात्र साधन है। अतएव आगेके ग्रन्थोंसे इन्द्र और विरोचनके दृष्टान्तसे ब्रह्मचर्यका मुख्य साधनत्व सिद्ध किया गया है।

अष्टम अध्याय समाप्त।



अथ नवम अध्याय



उपनिषदोंकी शिक्षाका सारांश।

भगवान् अनन्तशक्ति परमात्माकी अतर्क्य महिमासे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति, लय हो रहा है। जिसमें परमेश्वरका न कोई इष्टफल प्राप्त करना है और न कोई अनिष्ट दूर करना है, तथापि परमदयालु भगवान् केवल अनादिकालसे अविद्या-ग्रस्त प्राणियोंका उद्धार करनेकी ही चेष्टा करता है, और सब प्राणी अपनी अपनी उन्नति करके पूर्ण सुखको प्राप्त हो जांय यह सोचकर वेदद्वारा कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्डके विभागसे अनेक उपाय बताता है। उनमें विशेषत: उपनिषदोंमें इस जीवको सांसारिक गति कैसे प्राप्त होती है और इससे उद्धार कैसे होगा यह दिखलानेके लिये सृष्टिसे लेकर प्रलय पर्यन्तकी प्रक्रियाका वर्णन किया है, जिसका ज्ञान होनेंसे मनुष्यका अज्ञान और संकुचित भाव नष्ट होकर उदात्त और सर्वत्र समबुद्धिके भाव बन जाते हैं। उसकी विवेचना यथामति करता हूं। सृष्टिके आदिमें प्राणी कर्मादृष्ट वशसे भगवान्में ईक्षणरूप मायावृत्ति होकर भगवान्की माया शक्तिके ही ८ परिणाम क्रमसे प्रकृति, महत् इत्यादि होते हैं। इतनो ही जगत्की मुख्य सामग्री होनेसे यही अष्टविध प्रकृति कही जाती हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अपर प्रकृति यही कही है इसमें आप प्रकृति जो माया शब्दसे वेदान्तमें कही जाती है इसी अनिर्वचनीय माया शक्तिको भगवान् अपने वशमें रखकर सर्वज्ञ शक्तिमान् नित्य ज्ञान-वान् नित्य मुक्त ईश्वर कहे जाते हैं। मूल प्रकृतिका द्वितीय विकार महत्तत्त्व है जो रज तमको दबाकर सत्त्वकी उत्कर्षावस्था स्वरूप होने-से ईश्वर चैतन्यका प्रतिबिम्ब ग्रहण योग्य रूप हो जाता है। उसीमें चैतन्यका प्रति फल न होकर तीसरी विशिष्ट अवस्था होती है जिसका नाम अहङ्कार है। यही समष्टि लिङ्ग शरीर कहा जाता है। इसी संघातका अभिमानी जीव हिरण्यगर्भ शब्दसे व्यवहृत होता है। आगे इस अहङ्कारसे क्रमशः शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा, गन्ध तन्मात्राकी सृष्टि होती है। इन पांचोंका जो स्थूल भाव है वही पञ्चमहाभूत है। इनकी रचना विशेषसे जो शरीरा-कृति है वही विराट् शरीर है। इसीमें तीनो लोक अन्तर्भूत हैं। इसका अभिमानी ब्रह्मा प्रजापति नामसे कहा जाता है। यह जगत्की उत्पत्त्यवस्थाका अभिमानी है। ॐ शब्दमें अकार इसीका वाचक है। इसकी उत्पत्ति हिरण्यगर्भसे होती है और लय भी उसीमें होता है। हिरण्यगर्भ जगत्की स्थिति अवस्थाका अभिमानी है ॐकारमें उकार शब्द उसीका वाचक है। इसकी उत्पत्ति ईश्वरसे तथा लय भी उसीमें होता है। जगतकी लयावस्थाका अभिमानी ईश्वर है। वह नित्य है। उसका वाचक ॐकारमें मकार है॥

प्राणिमात्रके जीव ईश्वर चैतन्यसे बनते हैं। जीवहीको प्रमाता भोक्ता कहते हैं अतएव जीवेश्वरका ऐक्य वर्णन किया है। मूल प्रकृति

से जोवमात्रको उपाधि अविद्या बनो है यही सब संसारका मूल है। कारण यही अस्मिता राग द्वेष अभिनवेशको उत्पन्न करती है। यह नष्ट होनेसे जीव मुक्त होता है, सम्यक् ज्ञानसे इसका नाश होता है। महत्तत्व अहङ्कारसे क्रमशः प्राणि मात्रकी बुद्धि और ११ इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। बुद्धि और भोक्ताको भोग्य पदार्थके भोग करनेका यही साधन है। तन्मात्राओंसे नाम और रूपकी सृष्टि होती है नाम और रूप यही भोग्य हैं उसमें शब्द तन्मात्रासे नाम और अन्य चारोंसे रूप बनता है। शब्दसे अन्य मूर्त पदार्थोंको रूप कहते हैं। इसको प्रक्रिया निम्नलिखित प्रकारसे हैं।

अहंकारसे ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य बनते हैं। इन्हींको अधिदैव कहते हैं। इनमेंसे ८ वसु स्थूल भूतकी सहायतासे प्राणि-मात्रके लिये स्थूल देह और भोग्य विषय तथा वसति स्थानको बनाते हैं। ११ रुद्रसे उनको इन्द्रियां बनती हैं, तथा १२ आदित्य से काल बनता है।

भूलोकके प्राणियोंके लिये यही पृथिवी प्रकृति है। इसीमें अष्ट-विध प्रकृति आकर बसी है। भूलोकमें भोग करनेवाले प्राणियोंका लिङ्गदेह पर्जन्यसे पृथिवीमें आकर औषध द्वारा माता पिताकी सहायतासे स्थूल देहको धारण करता है।

पृथिवीके अन्नको खाकर जीवन व्यतीत करता है और पृथिवी ही पर बसता है, पृथिवीहीमें उसके स्थूल शरीरका लय होता है वैसाही अपने जीवन भरके लिये अपना शरीर ही प्रकृति है।

इसको सर्वदा मूल प्रकृतिके समान साम्य स्थितिमें रखनेसे

धर्मार्थ काम सिद्ध हो सकते हैं। शरीरके साम्यसे वाणीका भी व्यवहार समानतामें चला सकते हैं।

तथा पूर्वोक्त ८ प्रकृतियोंमें प्रत्येकका गुण समझकर अपनेमें उस गुणका संग्रह करना चाहिये।

जैसे पृथिवीका गुण सहन शीलता है वैसेही सर्वदा सहन शीलताका अभ्यास करना चाहिये। तथा जलमें जैसा स्नेह गुण है वैसा पूर्ण स्नेह भाव सबके साथ रखनेसे सबके प्रेमसे आकृष्ट रहेगा।

तेजमें जैसी तेजस्विता और ऊर्ध्व जानेका स्वभाव है वैसी अपनेमें तेजस्विता और सत्य व्यवहार हीसे असत्य व्यवहारको दबाकर उर्ध्व गति सम्पादन करना चाहिये।

वायुमें सदा गमन होनेपर भी जैसे कहीं वायु आसक्त नहीं होता, वैसे अपने सत्कर्म करके भी अलिप्त रहना और बलशाली रहना चाहिये

आकाश जैसे सबको अवकाश देकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंमें भी प्रविष्ट रहता है उसी तरह निर्भय होकर सब विचारोंको स्थान देकर सूक्ष्म विषय भी समझ लेना चाहिये।

अहंकार जैसा नियमित पदार्थोंको बनाकर उनमें व्याप्त होकर रहता है उसी तरह अपने भी आवश्यकीय कल्याणकारक कर्मोंमें मनको सहकारी बनाके प्रवृत्त होना चाहिये।

महत्तत्वके समान अपनी बुद्धिको सर्व श्रेष्ठ और बड़ी वा उदार बनाना चाहिये। और मूल प्रकृतिके समान सर्वदा साम्य स्थितिमें रहना चाहिये।

जैसे जिस प्राणीको पूर्व कर्मोंके अदृष्टसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यमें जिस वर्णका अथवा मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष अर्थात् जिस योनिका शरीर मिलेगा वही अपनी प्रकृति है।

उसकी योग्यताके अनुसार शास्त्रसे अथवा लोक व्यवहारसे जो कर्तव्य प्राप्त होगा उसको प्रयत्न और उत्साहसे अवश्य करना चाहिये।

उसको न करना अथवा राग द्वेषसे विरुद्ध करना यह अपनी प्रकृतिसे विरुद्ध होकर अधः पात करता है। इसलिये शास्त्रकारोंने नित्य कर्म न करनेमें और प्रतिषिद्ध करनेमें पाप कहा है। इसी रीतिसे नित्य कर्मका अनुष्ठान और प्रतिषिद्धका परित्याग करते हुए शास्त्रोक्त काम्यकर्मोंका विधि तथा श्रद्धा पूर्वक अधिकारानुरूप जो अनुष्ठान किया जायगा, उससे इस लोकका भोग उत्तम होकर परलोक भी उत्तम प्राप्त होता है।

तदनन्तर क्रमशः देवलोक, पितृलोक तथा भूलोकको सृष्टि हुई। इस प्रकार विचारनेसे ब्रह्मको छोड़ केवल नाम और रूप ये ही पदार्थ विभिन्न ज्ञात होंगे। पर ये दो पदार्थ मायाके प्रपंच होनेसे असद्रूप हैं; अतः वास्तविक संज्ञा केवल ब्रह्मकी ही है। उसके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है।

नवम अध्याय समाप्त।

शान्ति मन्त्र ।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्र मथोबल-मिन्द्रियाणिच सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मामा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



छान्दोग्योपनिषत् ।



(मूल ।)



छान्दोग्योपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः ।

—:*:—

प्रथमः खण्डः ।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति, तस्योप-
व्याख्यानम् ॥ १ ॥ एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः,
अपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग्रसः, वाच
ऋग् रसः, ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥ स एष
रसाना ँ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥ कतमा
कतमर्क्, कतमत् कतमत् साम, कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं
भवति ॥ ४ ॥ वागेवर्क्, प्राणः साम, ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः । तद्वा
एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥ ५ ॥ तदेतन्मिथुन-
मोमित्येतस्मिन्नक्षरे स ँ सृज्यते; यदा वै मिथुनौ समागच्छतः,
आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥ आपयिता ह वै कामानां
भवति, य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथ मुपास्ते ॥ ७ ॥ तद्वा एतदनुज्ञा-
क्षरं, यद्धि किञ्चानुजानात्योमित्येव तदाह, एषो एव समृद्धिर्यद-
नुज्ञा, समर्द्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथ-
मुपास्ते ॥ ८ ॥ तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते, ओमित्याश्रावयत्योमिति
शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥
तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या

च; यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १०

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीयः खण्डः ।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्याः, तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ ११ ॥ १ । तेह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, त ँ हासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च; पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ १२ ॥ २ ॥ अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, ता ँ हासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात्तयोभयं वदति सत्यञ्चानृतञ्च, पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ १३ ॥ ३ ॥ अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात्तेनोभयं पश्यति-दर्शनीयञ्चादर्शनीयञ्च, पाप्मना ह्येतद् विद्धम् ॥ १४ ॥ ४ ॥ अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धासुराः पाप्मना विविधुः तस्मात्तेनोभय ँ शृणोति, श्रवणीयञ्चाश्रवणीयञ्च, पाप्मना ह्येतद् विद्धम् ॥ १५ ॥ ५ ॥ अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात्तेनोभय ँ सङ्कल्पयते सङ्कल्पनीयञ्चासङ्कल्पनीयञ्च; पाप्मना ह्येतद् विद्धम् ॥ १६ ॥ ६ ॥ अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, त ँ हासुरा ऋत्वा विदध्वसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्व ँ सेत ॥ १७ ॥ ७ ॥ एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्व ँ सते, य एवं विदि पापं कामयते, यश्चैनमभिदासति; स एषोऽश्माखणः ॥ १८ ॥ ८ ॥ नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येषः, तेन यदश्नाति

यत् पिवति तेनेतरान् प्राणानवति । एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥१९॥९॥ त ँ हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्रे एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्ते अङ्गानां यद्रसः ॥२०॥१०॥ तेन त ँ ह वृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्रे; एतमु एव वृहस्पतिं मन्यन्ते, वाग्हि वृहती; तस्या एष पतिः ॥ २१ ॥ ११ ॥ तेन त ँ हायास्यमुद्गीथमुपासाञ्चक्रे; एतमु एवायास्यं मन्यन्ते, आस्याद्यदयते ॥२२ ॥१२॥ तेन त ँ ह वको दाल्भ्यो विदाञ्चकार । स ह नैमिषीयानामुद्गाता वभूव; सह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ २३ ॥ १३ ॥ आगाता ह वै कामानां भवति, य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते; इत्यध्यात्मम् ॥ २४ ॥ १४ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

तृतीयः खण्डः ।

अथाधिदैवतम् — य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत. उद्यन् वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्य ँ स्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति, य एवं वेद ॥ २५ ॥ १ । समान उ एवायञ्चासौ च, उष्णोऽयमुष्णोऽसौ, स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं, तस्माद्वा एतमिममसुञ्चोद्गीथमुपासीत ॥ २६ ॥ २ ॥ अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत; यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः, यो व्यानः सा वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन् वाचमभिव्याहरति ॥ २७ ॥ ३ ॥

या वाक् सर्क्, तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति; यर्क्

तत् साम, तस्मादप्राणन्ननपानन् साम गायति; यत् साम, स उद्गीथः, तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ २८ ॥ ४ ॥ अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्म्माणि-यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढ़स्य धनुष आयमनम्, अप्राणन्ननपान ँ स्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ २९ ॥ ५ ॥ अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीत— उद्गीथ इति, प्राण एवोत्, प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग् गीः, वाचो ह गिर इत्याचक्षते, अन्नं थम्, अन्ने हीद ँ सर्व ँ स्थितम् ॥ ३० ॥ ६ ॥ द्यौरेवोद् अन्तरिक्षं गीः पृथिवीथम्; आदित्य एवोद् वायुर्गीरग्निस्थ ँ सामवेद एवोद् यजुर्वेदो गीः ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग् दोहं यो वाचो दोहः, अन्नवानन्नादो भवति, य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्ते--उद्--गीथ इति ॥ ३५ ॥ ७ ॥ अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत, येन साम्ना स्तोष्यन् स्यात् तत् सामोपधावेत् ॥ ३१ ॥ ८ ॥ यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन् स्यात् तां देवतामुपधावेत् ॥ ३२ ॥ ९ ॥ येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात् तच्छन्द उपधावेद् येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात् त ँ स्तोममुपधावेत् ॥ ३४ ॥ १० ॥ यां दिशमभिष्टोष्यन् स्यात् तां दिशमुपधावेत् ॥ ३५ ॥ ११ ॥ आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तः; अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत् कामः स्तुवीतेति ॥ ३६ ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

चतुर्थः खण्डः ।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ मुपासीत; ओमिति ह्युद्गायति, तस्यो-

पन्याख्यानम् ॥ ३७ ॥ १ ॥ देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्, ते छन्दोभिरच्छादयन्; यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ ३८ ॥ २ ॥ तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्य्यपश्यद् ऋचि साम्नि यजुषि। ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३९ ॥ ३ ॥ यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरति एवꣳ सामैवं यजुः, एष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं, तत् प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन ॥ ४० ॥ ४ ॥ स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳ स्वरममृतमभयं प्रविशति, तत् प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ४१ ॥ ५ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

पञ्चमः खण्डः

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति, असौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ४२ ॥ १ ॥ एतमु एवाहमभ्यगासिषं, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच, रश्मींस्त्वं पर्यावर्त्तयाद् बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् । ४३ ॥ २ ॥ अध्यात्मम्--य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ मुपासीत, ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥४४ ॥ ३ एतमु एवाहमभ्यगासिषं, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच; प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायतात्, बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४५ ॥ ४ ॥ अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स

उद्गाथ इति ह्येतृषदनाद्धेवापि दुरुद्गीत मनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति । ४६ । ५ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

षष्ठः खण्डः

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते; इयमेव सा, अग्निरमस्तत् साम ॥४७॥१॥ अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत् साम ॥ ४८ । २ द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते; द्यौरेव सा, आदित्योऽमस्तत् साम ॥ ४९ । ३ ॥ नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम, तदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्य ध्यूढꣳ साम गीयते । नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमः, तत् साम ॥ ५० ॥ ४ ॥ अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्ग् अथ यन्नीलं परः कृष्णं तत् साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥५१॥ ५॥ अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव सा, अथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमः--तत् साम; अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः ॥ ५२ ॥ ६ ॥ तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी, तस्योदिति नाम, स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ५३ ॥ ७ ॥ तस्यर्क्च साम च गेष्णौ, तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गाता, एतस्य हि गाता, स एष ये

चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ५४ ॥ ८ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

सप्तमः खण्डः ।

अथाध्यात्मम् वागेवर्क् प्राणः साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत् साम ॥ ५५॥ १॥ चक्षुरेवर्गात्मा साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । चक्षुरेव सात्मामस्तत् साम ॥५६॥२॥ श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । श्रोत्रमेव सा, मनोऽमस्तत् साम ॥५७ ॥ ३ ॥ अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः, सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत् साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम, तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः, सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं, तदमस्तत् साम ॥ ५८ ॥ ४ ॥ अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत् साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म, तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम॥५९॥५॥ स एष ये चैतस्मा-दर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानाञ्चेति । तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति, तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६०॥ ६ ॥ अथ य एत-देवं विद्वान् साम गायत्युभौ स गायति । सोऽमुनैव स एष ये चामु-ष्मात् पराञ्चो लोकास्ताꣳ श्चाप्नोति देवकामाꣳश्च ॥ ६१ ॥ ७ ॥ अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्य कामाꣳश्च; तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥६२॥८॥ कं ते काममागायानी-

त्येष ह्येव कामागानस्येष्टे, स एतदेवं विद्वान् साम गायति साम गायति ॥ ६३ ॥ ९ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अष्टमः खण्डः ।

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः—शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति, ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥६४॥१॥ तथेति ह समुपविविशुः, स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच—भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाच ँ श्रोष्यामीति ॥ ६५ ॥ २ ॥ स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति, पृच्छेति होवाच, ॥ ६६ ॥ ३ ॥ का साम्नो गतिरिति, स्वर इति होवाच; स्वरस्यका गतिरिति, प्राण इति होवाच; प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाच, अन्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ६७ ॥ ४ ॥ अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच, अमुष्य लोकस्य का गतिरिति, न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच; स्वर्गं वयं लोक ँ सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसँ स्तावँ हि सामेति ॥ ६८ ॥ ५ ॥ तँ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच, अप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम, यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति॥ ६९ ॥ ६ ॥ हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच, अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाच, अस्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच, प्रतिष्ठां वयं लोक ँ सामाभिस ँ स्थापयामः, प्रतिष्ठा सँ स्ताव ँ हि सामेति ॥ ७० ॥ ७ ॥ तँ ह प्रवाहणो

जैवलिरुवाच, अन्तद्वै किल ते शालावत्य साम; यस्त्वेतर्हि ब्रूया-न्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति, मूर्द्धा ते विपतेदिति । हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच ।। ७१ ।। ८ ।

इति अष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

नवमः खण्डः ।

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच; सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥ ७२ ॥ १ ॥स एष परोवरीया-नुद्गीथः स एषोऽनन्तः; परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति, य एतदेवं विद्वान् परोवरीया ᳪ समुद्गीथमुपास्ते ॥ ७३ ॥ २ ॥ त ᳪ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वो-वाच—यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते, परोवरीयो हैभ्यस्तावद-स्मिल्लोँके जीवनं भविष्यति॥ ७३ ॥ ३ ॥ तथामुष्मिल्लोँके लोक इति, स य एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिल्लोँके जीवनं भवति, तथामुष्मिल्लोँके लोक इति, लोके लोक इति ॥ ७४ ॥ ४ ॥

इति नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

दशमः खण्डः

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्य ग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ ७५ ॥ १ ॥ स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे त ᳪ होवाच— नेतोऽन्ये विद्यन्ते, यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥७६॥ २ ॥एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ, हन्तानुपान मिति, उच्छिष्टं वै मे पीत ᳪ स्यादिति होवाच ॥ ७७ ॥ ३ ॥ न

स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजोविष्यमिमान खादन्निति होवाच कामा म उदपानमिति ॥ ७८ ॥ ४ ॥ स ह खादित्वातिशेषान् जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान् प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ७९ ॥ ५ ॥ स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच— यद्बतान्नस्य लभेमहि, लभेमहि मनमात्रा ऽ राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वै रात्विज्यैर्वृणोतेति ॥ ८० ॥ ६ ॥ त जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति, तान् खादित्वामु यज्ञं विततमेयाय ॥ ८१ ॥ ७ ॥ तत्रोद्गातॄ नास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश। स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८२ ॥ ८ ॥ प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ८३ ॥ ९ ॥ एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धाते विपतिष्यतीति ॥ ८४ ॥ १० ॥ एवमेव प्रतिहर्त्तारमुवाच। प्रतिहर्त्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति, ते ह समारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥ ८५ ॥ ११ ॥

इति दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एकादशः खण्डः।

अथ हैनं यजमान उवाच। भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीति, उषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ ८५ ॥ १ ॥ स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्य्यैषिषम। भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ॥ ८६ ॥ २ ॥ भगवा ऽ स्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति, तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवताम्। यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति। तथेति ह यजमान उवाच ॥ ८७ ॥ ३ ॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद, प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवान वोचत् कतमा सा देवतेति ।। ८८ ।। ४ ।। प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान प्रास्तोष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्, तथोक्तस्य मयेति ।। ८९ ।। ५ ।। अथ हैनमुद्गातोपससाद, उद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्; कतमा सा देवतेति ।। ९० ।। ६ ।। आदित्य इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति, सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वानुदगास्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत् तथोक्तस्य मयेति ।। ९१ ।। ७ । अथ हैनं प्रतिहर्त्तोपससाद, प्रतिहर्त्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्; कतमा सा देवतेति ।। ९२ ।। ८ ।। अन्नमिति होवाच ; सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति, सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान् प्रत्यहरिष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत् तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ।। ९३ ।। ९

इति एकादशः खण्डः ।। ११ ।।

द्वादशः खण्डः ।।

अथातः शौव उद्गीथः, तद्ध वको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ।। ९४ ।। १ ।। तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव, तमन्ये

श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायतु अशनायाम वा इति ॥ ९५ ॥ १ ॥ तान् होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति । तद्ध वको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ॥ ९६ ॥ ३ ॥ ते ह यथैवेदं वहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः स꣡ꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥ ९७ ॥ ४ ॥ ओ ३ मदा ३ मोम् ३ पिबा ३ मोम् ३ देवो वरुणः प्रजापतिः सविता २ न्नमिहा २ हरदन्नपते ३ ऽन्नमिहा २ हरा २ हरो ३ मिति ॥ ९८ ॥ ५ ।

इति द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ ९९ ॥ १ ॥ आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाऽग्विराट् ॥ १०० ॥ २ ॥ अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चरो हुङ्कारः ॥ १०१ ॥ ३ ॥ दुग्धेऽस्मै वाग् दोहं यो वाचो दोहः, अन्नवानन्नादो भवति, य एतामेव꣡ꣳ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेदेति ॥ १०२ ॥ ४ ।

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

—०*—

प्रथमः खण्डः ॥

समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳ साधु, यत् खलु साधु तत् सामेत्याचक्षते, यदसाधु तदसामेति ॥ १०३ ॥ १ ॥ तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति—साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ १०४ ॥ २ ॥ अथोताप्याहुः साम नो बतेति, यत साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुः । असाम नो बतेति यदसाधु भवत्या साधुबतेत्येव तदाहुः ॥ १०५ ॥ ३ ॥ स य एतदेवं विद्वान् साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो धर्म्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ १०६ ॥ ४ ।

इति प्रथमः खण्डः ।

द्वितीयः खण्डः ।

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत; पृथिवी हिङ्कारः । अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्ष मुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौ र्निधन मित्यूर्द्ध्वेषु ॥ १०८ ॥ १ ॥ अथावृत्तेषु द्यौर्हिङ्कार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्ष मुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ १०९ ॥ २ ॥ कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्द्ध्वाश्चावृत्ताश्च, य एतदेवं विद्वाल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ ११० ॥ ३ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ।

तृतीयः खण्डः ।

वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपासीत, पुरोवातो हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनम् ॥ १११ ॥ १ ॥ वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ ११२ ॥ २ ॥

इति तृतीयः खण्डः ।

चतुर्थः खण्डः ।

सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपासीत, मेघो यत् संप्लवते स हिङ्कारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ ११३ ॥ १ ॥ न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान् भवति; य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ ११४ ॥ २ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

पंचमः खण्डः ।

ऋतुषु पञ्चविध ँ सामोपासीत; वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ ११५ ॥ १ ॥ कल्पन्ते हास्मा ऋतवः, ऋतुमान् भवति; य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ ११६ ॥ ५ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ।

षष्ठः खण्डः ।

पशुषु पञ्चविध ꣳ सामोपासीत, अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥ ११७ ॥ १॥ भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति य एतदेवं विद्वान् पशुष पञ्चविध ꣳ सामोपास्ते ॥ ११८ ॥ २ ॥

इति षष्ठः खण्डः ।

सप्तमः खण्डः ।

प्राणेषु पञ्चविध ꣳ परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं, परोवरीया ꣳ सि वा एतानि ॥ ११९ ॥ १ परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकान् जयति, य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ १२० ॥ २

इति सप्तमः खण्डः ।

अष्टमः खण्डः ।

अथ सप्त विधस्य, वाचि सप्तविध ꣳ सामोपासीत, यत् किञ्च वाचो हुमिति, स हिङ्कारो यत् प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १२१ ॥ १ ।।यदुद्दिति स उद्गीथो यत् प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ १२२ ॥ २ दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं या वाचो दोहः अन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविध ꣳ सामोपास्ते ॥ १२३ ॥ ३ ॥

अष्टमः खण्डः ।

नवमः खण्डः।

अथ खल्वमुमादित्यꣳसप्त विधꣳसामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम, मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१२४॥१॥ तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्, तस्य यत् पुरोदयात् स हिङ्कारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिङ्कार भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ १२५ ॥ २ ॥ अथ यत् प्रथमोदिते स प्रस्तावः; तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः; तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः; प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ १२६ ॥ ३ ॥ अथ यत् सङ्गववेलायाꣳ स आदित्यस्तदस्य वयाꣳस्यन्वायत्तानि; तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्ति आदिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ १२७ ॥ ४ ॥ अथ यत् सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्ताः; तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानाम्, उद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ १२८ ॥ ५ ॥ अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात् प्रागपराह्णात् स प्रतिहारः, तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते; प्रतिहार भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ १२८ ॥ ६ ॥ अथ यदूर्ध्वमपराह्णात् प्रागस्तमयात् स उपद्रवः, तदस्यारण्या अन्वायत्ता स्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳश्वभ्रमित्युपद्रवन्ति, उपद्रव भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ १२९ ॥ ७ ॥ अथ यत् प्रथमास्तमिते तन्निधनं, तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान् निदधति; निधन भाजिनो ह्येतस्य साम्नः एवम् खल्वमुमादित्यꣳसप्तविधꣳसामोपास्ते ॥ १३० ॥ ८ ॥

इति नवमः खण्डः।

दशमः खण्डः ।

अथ खल्वात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपासीत ।
हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं, तत् समम् ॥ १३१ ॥ १ ॥
आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरम्, तत इहैकं तत् समम्
॥१३२॥२॥ उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं; त्रिभिस्त्रिभिः
समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते, त्र्यक्षरं तत् समम् ॥ १३३ ॥३ ॥निधन-
मिति त्र्यक्षरं तत् सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविꣳशति
रक्षराणि ॥ १३४ ॥ ४ ॥ एक विꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा
इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम्
॥ १३५ ॥ ५ ॥ आप्नोति हादित्यस्य जयं, परो हास्यादित्य जयाज्जयो
भवति, य एतदेवं विद्वानात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामो-
पास्ते सामोपास्ते ॥ १३६ ॥ ६ ॥

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एकादशः खण्डः

मनो हिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो
निधनम्; एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १३७ ॥ १ ॥ स य एवमे-
तद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद, प्राणी भवति, सर्वमायुरेति ज्योग्
जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या; महामनाः स्यात्;
तद् व्रतम् ॥ १३८ ॥ २ ॥

इति एकादशः खण्डः ।

द्वादशः खण्डः ।

अभिमन्थति स हिङ्कारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳ सꣳ उपशाम्यति तन्निधनमेतद् रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ १३९ ॥ १ स य एवमेतद् रथन्तर मग्नौ प्रोतं वेद, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्त्या; न प्रत्यङ्ङग्नि माचामेन्न निष्ठीवेत्, तद् व्रतम् ॥ १४० ॥ २

इति द्वादशः खण्डः ।

त्रयोदशः खण्डः ।

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो जायते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनम्, एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥ १४१ ॥ १ ॥ स य एवमेतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद, मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात् प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्त्या; न काञ्चन परिहरेत्; तद् व्रतम् ॥ १४२ ॥ २ ॥

त्रयोदशः खण्डः ।

चतुर्दशः खण्डः ।

उद्यन् हिङ्कार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनम्, एतद् बृहदादित्ये प्रोतम ॥ १४३ ॥ १ ॥ स

य एवमेतद् बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या । तपन्तं न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥ १४४ ॥ २ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ।

पञ्चदशः खण्डः ।

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनम्, एतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १४५ ॥ १ ॥ स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद, विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या; वर्षन्तं न निन्देत् तद् व्रतम् ॥ १४६ ॥ २ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ।

षोडशः खण्डः ।

वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्, एतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १४७ ॥ १ ॥ स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद; विराजति प्रजया पशुभि र्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या; ऋतून्न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥ १४८ ॥ २ ॥

इति षोडशः खण्डः ।

सप्तदशः खण्डः ।

पृथिवी हिङ्काराऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनम्, एताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १४९ ॥ १ ॥ स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद; लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ; लोकान्न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥ १५० ॥ २ ॥

इति सप्तदशः खण्डः ।

अष्टादशः खण्डः ।

अजा हिङ्कारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम्, एता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १५१ ॥ १ ॥ स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद, पशुमान् भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या; पशून्न निन्देत् तद् व्रतम् ॥ १५२ ॥ २ ॥

इति अष्टादशः खण्डः ।

ऊनविंशः खण्डः ।

लोम हिङ्कारस्त्वक् प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनम्, एतद् यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥१५३॥ १ ॥ स य एवमेतद् यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेद अङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान्

कीर्त्त्या, संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात, तद् व्रतं, मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ १५४ ॥ २ ॥

इति ऊनविंशः खण्डः।

विंशः खण्डः।

अग्निर्हिङ्कारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रति-हारश्चन्द्रमा निधनम्; एतद् राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १५५ ॥ १ ॥
स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्त्या; ब्राह्मणान् न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥ १५६ ॥ २ ॥

इति विंशः खण्डः।

एकविंशः खण्डः।

त्रयी-विद्या हिङ्कारस्त्रय इमे लोका स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा-गन्धर्वाःपितरस्तन्निधनम्; एतत्साम सर्वस्मिन् प्रोतम् ॥ १५७ ॥ १ ॥
स य एवमेतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद, सर्वꣳह भवति ॥१५८॥२॥
तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि, त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्य-दस्ति ॥ १५९ ३ ॥ यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत, तद् व्रतं तद् व्रतम् ॥ १६० ॥ ४ ॥

इति एक विंशः खण्डः।

द्वाविंशः खण्डः ।

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्य मित्यग्ने रुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापते-र्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य, तान् सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ १६१ ॥ १ ॥ अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्, स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमाना-यान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तःस्तुवीत॥१६२॥२॥ सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व उष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवम् स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्॥ १६३ ॥ ३ ॥अथ यद्येनमुष्मसूऽ-पालभेत प्रजापतिꣳ शरणं प्रपन्नोऽवन् स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् । अथ यद्येनꣳ :स्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳ शरणं प्रपन्नो-भूवम्, सत्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ १६४ ॥ ४ ॥ सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः, इन्द्रे बलं ददानीति । सर्व उष्माणोऽ-ग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति, सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ १६२ ॥ ५ ॥

इति द्वाविंशः खण्डः ।

त्रयो विंशः खण्डः ।

त्रयो धर्म्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽव

सादयन्, सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मस ँ स्थोऽमृतत्वमेति । १६६ ॥१॥ प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्, तामभ्यतपत्, तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त—भूर्भूवः स्वरिति । १६७ । २ ॥ तान्यभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कारः सम्प्रास्रवत्; तद् यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा; ओंकार एवेद ँ सव मोङ्कार एवेद ँ सर्वम् ॥ १६८ ॥ ३ ॥

इति त्रयोविंशः खण्डः ।

चतुर्विंशः खण्डः ।

ब्रह्म वादिनो वदन्ति—यद्वसूनां प्रातः सवन ँ रुद्राणां माध्यन्दिन ँ सवनमादित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीय सवनम् ॥ १६९ ॥ १ ॥ क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति. स यस्तं न विद्यात् कथं कुर्य्यादथ विद्वान् कुर्य्यात् ॥ १७० ॥ २ ॥ पुरा प्रात रनुवाकस्योपाकरणाज्जपनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासव ँ सामाभिगायति ॥ १७१ ॥ ३ ॥ लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं ँ रा ३ ३ ३ ३ ३ हू ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ मो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ १७२ ॥ ४ ॥ अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवोक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ १७३ ॥ ५ ॥ अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघमित्यु क्त्वोत्तिष्ठति; तस्मै वसवः प्रातः सवन ँ सम्प्रयच्छन्ति ॥ १७४ ॥ ६ ॥ पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाक-

रणाज्जघनेनाग्नी ध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति ॥ १७५ ॥ ७ । लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं त्वंरा ३ ३ ३ ३ ३ हू ३ ३ आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ १७६ ॥ ८ । अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ १७७ ॥ ९ ॥ अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति; तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ सम्प्रयच्छन्ति ॥ १७८ ॥ १० ॥ पुरा तृतीय सवनस्योपाकरणाज्जघने नाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳ स वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति ॥ १७९ ॥ ११ ॥ लो कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳ स्वारा ३ ३ ३ ३ ३ हू ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ १८० ॥ १२ ॥ आदित्यमथ वैश्वदेव लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳ साम्रा ३ ३ ३ ३ ३ हू ३ म् ३ आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ ८१ ॥ १३ ॥ अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत, एष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ १८२ ॥ १४ ॥ अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १८३ ॥ १५ ॥ तस्मा आदित्यश्च विश्वेच देवास्तृतीय सवनꣳ सम्प्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रा वेद, य एवं वेद य एवं वेद ॥ १८४ ॥ १६ ॥

इति चतुर्विंशः खण्डः ।

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

—०:०:०—

प्रथमः खण्डः ।

असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १८५ ॥ १ ॥ तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः । ऋच एव मधुकृतः ऋग्वेद एव पुष्पं, ता अमृता आप स्ता वा एता ऋचः ॥ १८६ ॥ २ ॥ एत मृग्वेदमभ्यतपꣳ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ १८७ ॥ ३ ॥ तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्; तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ रूपम् ॥ १८८ ॥ ४ ॥

प्रथमः खण्डः ।

द्वितीयः खण्डः ।

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं, ता अमृता आपः ॥ १८९ ॥ १ ॥ तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ १९० ॥ २ ॥ तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्, तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳ रूपम् ॥ १९१ ॥ ३ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ।

तृतीयः खण्डः।

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः, सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं, ता अमृता आपः ॥१९२॥१॥ तानि वा एतानि सामान्येत ँ सामवेदमभ्यतप ँ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ १९३ । २ ॥ तद्व्यक्षर त्तदादित्यमभितोऽश्रयत्, तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्ण ँ रूपम् ॥ १९४ ॥ ३ ॥

इति तृतीयः खण्डः।

चतुर्थः खण्डः॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहास पुराणपुष्पं, ता अमृता आपः ॥ १९५ ॥ १ ॥ ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतप ँ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ १९६ ॥ २ ॥ तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्, तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्ण ँ रूपम् ॥ १९७ ॥ ३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः।

पञ्चमः खण्डः।

अथ येऽस्योर्द्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्द्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं, ता अमृता आपः ॥ १९८ ॥ १ ॥ ते वा एते गुह्या आदेशा एतद् ब्रह्माभ्यतप ँ स्तस्याभितप्तस्य यश

इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ १९९ ॥ २ ॥ तद्व्यक्षरद्तदादित्यमभितोऽश्रयत्, तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ २०० ॥ ३ ॥ ते वा एते रसाना ँ रसाः, वेदा हि रसास्तेषामेते रसाः तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ २०१ ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः।

षष्ठः खण्डः।

तद् यत् प्रथमममृतं तद् वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन, न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ २०२ ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २०३ ॥ २ ॥ स य एतदेवामृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति, स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥२०४॥३॥ स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यं ँ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ २०५ ॥ ४ ॥

इति षष्ठः खण्डः।

सप्तमः खण्डः।

अथ यद् द्वितीयममृतं, तद् रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन; न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृत दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ २०६ ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ॥ २०७ ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं

दृष्ट्वा तृप्यति, स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति
॥ २०८ ॥ ३ ॥ स यावदादित्य पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्ता-
वद् दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता; रुद्राणामेव तावदाधिपत्य ँ
स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ २०९ ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ।

अष्टमः खण्डः ।

अथ यत् तृतीयममृतं, तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन,
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येत देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥२१०॥१॥
त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ॥ २११ ॥ २ ॥ स
य एतदेवममृतं वेद, आदित्यानामेवैको भूत्वा, वरुणेनैव मुखेनैतदेवा-
मृतं दृष्ट्वा तृप्यति; स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपा
दुदेति ॥ २१२ ॥ ३ ॥ स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता
द्विस्तावत् पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्य ँ
स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ २१३ ॥ ४ ॥

इति अष्टमः खण्डः ।

नवमः खण्डः ।

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन, न वै
देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ २१४ ॥ १ ॥
त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २१५ ॥ २ ॥
स य एतदेवामृतं वेद, मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं

दृष्ट्वा तृप्यति, स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति
॥ २१६ ॥ ३ ॥स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्त—
वदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ
स्वाराज्यं पर्येता । २१७ ॥ ४ ॥

इति नवमः खण्डः ।

दशमः खण्डः ।

अथ यत् पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न
वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ २१८ ॥ १ ॥
त एतदेवा रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २१९ ॥ २ ॥
स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवा-
मृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति
॥ २२० ॥ ३ ॥ स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता
द्विस्तावदूर्ध्वं उदेतताऽर्वागस्तमेता साध्यानामेव तावादाधित्यꣳस्वा-
राज्यं पर्य्येतः ॥ २२१ ॥ ४ ॥

इति दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एकादशः खण्डः ।

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकलएव मध्ये स्थाता;
तदेष श्लोकः ॥ २२२ ॥ १ ॥ न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय
कदाचन । देवास्तेनाꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥ २२३ ॥ २ ॥
न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति, य

एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ २२४ ॥ ३ ॥ तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ २२५ ॥ ४ ॥ इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वाऽन्ते वासिने ॥ २२६ ॥ ५ ॥ नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात् एतदेव ततोभूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ २२७ ॥ ६ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

——

द्वादशः खण्डः ।

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥ २२८ ॥ १ ॥ या वै सा गायत्रीयं वाव सा—येयं पृथिव्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २२९ ॥ २ ॥ या वै सा पृथिवीयं वाव सा, यदिदमस्मिन् पुरुषे शरीरमस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ २३० ॥ ३ ॥ यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयम्, अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ २३१ ॥ ४ ॥ सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री; तदेतदृचाभ्यनुक्तम् ॥ २३२ ॥ ५ ॥ तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ २३३ ॥ ६ ॥ यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद् योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः, यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः— ॥ २३४ ॥ ७ ॥ अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै

सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥ २३५ ॥ ८ ॥ अथ वाव स योऽयमन्त-र्हृदय आकाशस्तदेतत् पूर्णमप्रवर्त्ति; पूर्णमप्रवर्त्तिनीᳫँ श्रियं लभते, य एवं वेद ॥ २३६ ॥ ९ ।

इति द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः खण्डः ।

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः; स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत, तेजस्व्या-न्नादो भवति, य एवं वेद ॥ २३७ ॥ १ ॥ अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रᳫँ स चन्द्रमास्त देतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत; श्रीमान् यशस्वी भवति, य एवं वेद ॥ २३८ ॥ २ ॥ अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः, सोऽपानः सा वाक् सोऽग्नि स्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्यु पासीत, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति, य एवं वेद ॥ २३९ ॥ ३ ॥ अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्ज्जन्यः, तदेतत् कीर्त्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत; कीर्त्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ २४० ॥ ४ ॥ अथ योऽस्योर्द्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः; तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत ; ओजस्वी महा-स्वान् भवति य एवं वेद ॥ २४१ ॥ ५ ॥ ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः, स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान वेद अस्य कुले वीरो जायते; प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं. य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद॥ २४२ ॥ ६॥ अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्व

नुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु; इदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥ २४३ ॥ ७ ॥ तस्यैषा दृष्टिः—यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स ᳇ स्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिः—यत्रैतत् कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपश्रृणोति तदेतद्दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत; चक्षुष्यः श्रुतो भवति, य एवं वेद य एवं वेद ॥ २४४ ॥८ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः खंडः ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो तथा क्रतुरस्मिल्लोंके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ २४५ ॥ १ ॥ मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २४६ ॥ २ ॥ एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायग्नन्तरिक्षा ज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ २४७ ॥३ ॥ सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भावितास्मीति—यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः—शाण्डिल्यः ॥ २४८ ॥ ४ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः । १४

पञ्चदशः खंडः ।

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्य्यति, दिशोऽस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिदꣳ श्रितम् ॥ २४९ ॥ १ ॥ तस्य प्राची दिग् जुहूर्नाम, सहमाना नाम दक्षिणा, राज्ञी नाम प्रतीची, सुभूता नामोदीची, तासां वायुर्वत्सः; स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद, न पुत्ररोदꣳ रोदिति; सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद या पुत्ररोदꣳ रुदम् ॥ २५० ॥ २ ॥ अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, प्राणंप्रपद्य ऽमुनाऽमुनाऽमुना, भूः प्रपद्य ऽमुनाऽमुनाऽमुन, भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ।।२५१।।३।। स यदवोचं प्राणं प्रपद्ये इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च, तमेव तत् प्रापत्सि ।।२५२।।४।। अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति, पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ।। २५३ ।। ५ ।। अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्ये आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ।। २५४ ।। ६ ।। अथ यदवोचꣳ स्वः प्रपद्ये इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ।।२५५।।७।।

इति पञ्चदशः खण्डः ' १५

षोड़शः खण्डः ।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳ शतिवर्षाणि, तत् प्रातः सवनं, चतुर्विꣳ शत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातः सवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसवः एते हीदꣳ सर्वं वासन्ति

॥ २५६ ॥ १ ॥ तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्, स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातः सवनं माध्यन्दिनꣳसवनमनुसन्तनुतेति, माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २५७ ॥ २ ॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳ शद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं, चतुश्चत्वारिꣳ शदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनम्; तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः, प्राणा वाव रुद्राः, एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ २५८ ॥ ३ ॥ तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्, स ब्रूयात—प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीय सवन मनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥२५९॥४॥ अथ यान्यष्टचत्वारिꣳ शद्वर्षाणि, तत् तृतीय सवनम्; अष्टचत्वारिꣳ शदक्षराजगती; जागतं तृतीय सवनं, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः, प्राणा वावादित्याः, एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥ २६० ॥ ५ ॥ तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीय सवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ २६१ ॥६ ॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः—स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति, स ह षोडशं वर्षशतं जीवति, य एवं वेद ॥ २६२ ॥ ७ ॥

इति षोड़शः खण्डः ॥ १६ ॥

——

सप्तदशः खण्डः ।

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते, ता अस्य दीक्षाः ॥ २६३ ॥ १ ॥ अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते, तदुपसदैरेति ॥ २६४ ॥ २ ॥ अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति, स्तुत शस्त्रैरेव तदेति ॥ २६५ ॥ ३ ॥ अथ यत् तपो दानमार्ज्जवमहि ँ सा सत्यवचनमिति, ता अस्य दक्षिणाः ॥ २६६ ॥ ४ ॥ तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति, पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥ २६७ ॥ ५ ॥ तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव, सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येत—अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणस ँ शितमसीति । तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ २६८ ॥ ६ ॥ आदित प्रत्नस्य रेतसः । उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तर ँ स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ २६९ ॥ ७ ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अष्टादशः खण्डः ।

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्; अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति, उभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ २७० ॥ १ ॥ तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म—वाक् पादः प्राणः पादः चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्, अथाधिदैवतम्—अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इति,उभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २७१ ॥ २ ॥ वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः; सोऽग्निना ज्योतिषा

भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ २७२ ॥ ३ प्राण एव ब्रह्मण श्चतुर्थः पादः, स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद ॥ २७३ ॥ ४ ॥ चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद ॥ २७४ ॥ ५ । श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद य एवं वेद ॥ २७५ ॥ ६ ॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

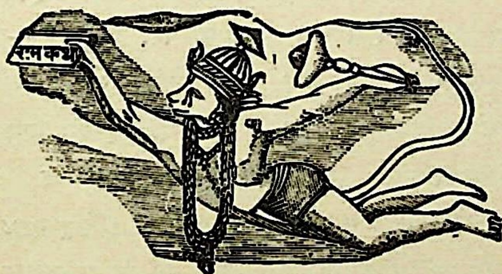
ऊनविंशः खण्डः।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्, तत् समभवत्तदाण्डं निरवर्त्तत; तत् सम्वत्सरस्य मात्रामशयत, तन्निरभिद्यत, ते आण्ड—कपाले रजतञ्च सुवर्णञ्चा-भवताम् ॥ २७६ ॥ १ । तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी, यत् सुवर्णꣳ स द्यौर्यज्जरायु ते पर्वताः यदुल्बꣳ स्तत् समेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यायद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः ॥ २७७ ॥ २ ॥ अथ अथ यत्तदजायत् सोऽसावादित्यः। तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त, सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः तस्मात् तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रत्यघोषा उलूलवोऽनुतिष्ठन्ति सर्वाणि

च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥ २७८ ॥ ३ ॥ स य एतमेवं विद्वा-
नादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्यासो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ
च गच्छेयुरुप च निम्रेडेन्निम्रेडन् ॥ २७९ । ४ ॥

इति ऊनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥



चतुर्थोऽध्यायः ।

—:※:—

प्रथमः खण्डः ।

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस; स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एवमेऽन्नमत् स्यन्तीति ॥ २८० ॥ १ ॥ अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसमभ्युवाद—हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष, जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततम्, तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २८१ ॥ २ ॥ तमु ह परः प्रत्युवाच—कम्वर एनमेतत् सन्तꣳ सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति, यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥ २८२ ॥ ३ ॥ यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति। यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति, यस्तद्वेद यत् स वेद, स मयैतदुक्त इति ॥ २८४ ॥ ४ तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव; स ह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति, यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥ २८५ ॥ ५ ॥ यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमैति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति, स यस्तद्वेद यत् स वेद, स मयैतदुक्त इति ॥ २८५ ॥ ६ ॥ स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तꣳहोवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ २८६ ॥ ७ ॥ सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश, तꣳहाभ्युवाद—त्वं नु भगवः

सयुग्वा रैक्व इति, अह७ँ ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ता-
विदमिति प्रत्येयाय ॥ २८७ ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

द्वितीयः खण्डः ।

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं
तदादाय प्रतिचक्रमे; त७ँ हाभ्युवाद ॥ २८८ ॥ १ ॥ रैक्वेमानि
षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवता७ँ
शाधि यां देवतामुपास्सइति ॥ २८९ ॥ २ ॥ तमु ह परः प्रत्यु-
वाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सहगोभिरस्त्विति; तदु ह पुनरेव जान-
श्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय
प्रतिचक्रमे ॥ २९० ॥ ३ ॥ त७ँ हाभ्युवाद रैक्वेद७ँ सहस्रं
गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथं इयं जायायं ग्रामो यस्मिन्ना-
स्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥ २९१ ॥ ४ ॥ तस्या ह मुखमुपो-
द्गृह्णन्नुवाच जाहारेमाः शूद्र, अनेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ।
ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास स तस्मै होवाच ॥
२९२ ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

तृतीयः खण्डः ।

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति
यदा सूर्य्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायु-

मेवाप्येति ॥ २९३ ॥ १ ॥ यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति, वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ २९४ ॥ २ ॥ अथाध्यात्मम्—प्राणो वाव संवर्गः, स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति, प्राणं चक्षुः प्राणꣳ श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥ २९५ ॥ ३ ॥ तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ २९६ ॥ ४ ॥ अथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे; तस्मा उ ह न ददतुः ॥ २९७ ॥ ५ ॥ स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ २९८ ॥ ६ ॥ तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे; दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ २९९ ॥ ७ ॥ तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्-कृतम्, तस्मात् सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतꣳ सैषा विराडन्नादी, तयेदꣳ सर्वं दृष्टꣳ सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ३०० ॥ ८ ।

इति तृतीयः खण्डः ॥ ८ ॥

चतुर्थः खण्डः ।

सत्यकामोह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्य्यं भवति विवत्स्यामि, किं गोत्रोन्वहमस्मीति ॥ ३०१ ॥ १ ॥ सा

हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि, जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति॥ ३०२॥ २॥ स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्य्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति॥ ३०३॥ ३॥ तꣳ होवाच किं गोत्रो नु सोम्यासीति, स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि, अपृच्छं मातरꣳ सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि, जबाला तु नामाऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति; सोहꣳ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति॥ ३०४॥ ४॥ तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधꣳ सोम्याहरोपत्वा नेष्ये न सत्यादगा इति। तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति, ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच—नासहस्रेणावर्त्तयेति; स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ सम्पेदुः॥ ३०५॥ ५॥

इति चतुर्थः खण्डः॥ ४॥

पञ्चमः खण्डः

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद—सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव, प्राप्ताः सोम्य, सहस्रꣳस्मः, प्रापय न आचार्य्यकुलम्॥ ३०६॥ १॥ ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति, ब्रवीतु मे भगवानिति, तस्मै होवाच—प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य, चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाश-

वान् नाम ॥ ३०७ । २ ॥ स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते, प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति, एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३०८ ॥ ३ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ।

—०—

षष्ठः खण्डः ।

अग्निष्टे पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ ३०९ ॥ १ ॥ तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति; भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ ३१० ॥ २ ॥ ब्रह्मणः सोम्य, ते पादं ब्रवाणीति, ब्रवीतु मे भगवानिति; तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला, द्यौः कला, समुद्रः कलैष वै सोम्य, चतुष्कलःपादो ब्रह्मणोऽनन्तवान् नाम ॥ ३११ ॥ ३ ॥ स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवान स्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ३१२ ॥ ४ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

सप्तमः खण्डः ।

हꣳसस्ते पादं वक्तेति, स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार, ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ ३१३ ॥ १ ॥ तꣳहꣳ

स उपनिपत्याभ्युवाद—सत्यकाम ३ इति, भगवः इति ह प्रतिशुश्राव ॥ ३१४ ॥ २ ॥ ब्रह्मणः सोम्य, ते पादं ब्रवाणीति, ब्रवीतु मे भगवानिति, तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्य्यः कला चन्द्रः कला विद्युत् कलैष वै सोम्य; चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३१५ ॥ ३ ॥ स य एतमेवं विद्वाᳬश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते, ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति, ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वाᳬश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिस्मानित्युपास्ते ॥ ३१६ ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अष्टमः खण्डः ।

मद्गुष्टे पादं वक्तेति, स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार, ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङु पोपविवेश ॥ ३१७ ॥ १ ॥ तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद --सत्यकाम ३ इति, भगव, इति ह प्रतिशुश्राव ॥ ३१८ ॥ २ ॥ ब्रह्मणः सोम्य, ते पादं ब्रवाणीति, ब्रवीतु मे भगवानिति, तस्मै होवाच --प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सौम्य, चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३१८ ॥ ३ ॥ स य एतमेवं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिंल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वाᳬश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ३१९ ॥ ४ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

नवमः खण्डः ।

प्राप हाचार्य्यकुलं, तमाचार्य्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति; भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ ३२० ॥ १ ॥ ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि; को त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे; भगवाᳬ स्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ ३२१ ॥ २ ॥ श्रुतᳬ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३२२ ॥ ३ ॥

इति नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

दशमः खण्डः

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्य्यमुवास, तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन् परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्त्तयᳬस्तᳬ ह स्मैव न समावर्त्तयति ॥ ३२३ ॥१॥ तं जायोवाच—तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन, प्रब्रूह्यस्मा इति; तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥३२४॥ २ ॥ स ह व्याधिनानशितुं दध्रे, तमाचार्य्यजायोवाच-ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति, स होवाच बहव इमेऽस्मिन् पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि, नाशिष्यामीति ॥ ३२५ ॥ ३ ॥ अथ हाग्नयः समुदिरे—तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्य्यचारीत्, हन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ३२६ ॥ ४ ॥ स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म, कञ्च तु

खञ्च न विजानामीति । ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणञ्च हास्मै तदाकाशञ्चोचुः ॥ ३२७ ॥ ५

इति दशमः खण्डः ॥ १०

एकादशः खण्डः ।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति; य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥३२८ ॥ १॥ स य एतमेवं विद्वानपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ ३२९ ॥ २॥

इति एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

द्वादशः खण्डः ।

अथ हैनमन्वाहार्य्यं पचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ ३३० ॥ १ ॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ ३३१ ॥ २ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः खण्डः ।

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशोद्यौर्विद्युदिति । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ ३३३ ॥ १ ॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्ते, उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च; य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ ३३३ ॥ २ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः खण्डः ।

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य, तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्य्यस्तु ते गतिं वक्तेति; आजगाम हास्याचार्य्यस्तमाचार्य्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ ३३४ ॥ १ ॥ भगव इति ह प्रतिशुश्राव, ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति, को नु त्वानुशशासेति । को नु मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत, इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे, किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ ३३५ ॥ २ ॥ इदमिति ह प्रतिजज्ञे, लोकान् वाव किल सोम्य, तेऽवोचन्नहन्तु ते तद्वक्ष्यामि—यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवं विदि पापं कर्म्म न श्लिष्यत इति; ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३३६ ॥ ३ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः खण्डः ।

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभय-मेतद् ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति, वर्त्मनी एव गच्छति ॥ ३३७ ॥ १ ॥ एत ॅं संयद्वाम इत्याचक्षत एत ॅं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति; सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवंवेद ॥ ३३८ ॥२ ॥ एष उ वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति; सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३३९ ॥ ३ ॥ एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति; सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ३४० ॥ ४ ॥ अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च न अर्चिषमेवाभिसम्भ-वन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासा ॅं स्तान्मासेभ्यः संवत्सर ॅं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्र-मसं चन्द्रमसो विद्युतं तत् पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति; एष देवपथो ब्रह्मपथः, एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नाव-र्त्तन्ते नावर्त्तन्ते ॥ ३४१ ॥ ५ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

षोडशः खंडः ।

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते एषः ह यन्निद ॅं सर्वं पुनाति; यदेष यन्निद ॅं सर्वं पुनाति, तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य वाक् च मनश्च वर्त्तनी ॥ ३४२ ॥ १ ॥ तयोरन्यतरां मनसा स ॅं स्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्य्युरुद्गातान्यतरा ॅं स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्म व्यवदति ॥ ३४३ ॥ २ ॥ अन्यतरामेव वर्त्तन

ᳫ् सᳫ्स्करोति हीयतेऽन्यतरा; स यथैकपाद् व्रजन् रथो वैकेन चक्रेण वर्त्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति; यज्ञᳫ् रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति; स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ ३४४ ॥ ३ ॥ अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव वर्त्तनी सᳫ्स्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ३४५ ॥ ४ ॥ स यथोभयपाद्व्रजन् रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्त्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति; यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति; स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥ ३४६ ॥ ५ ॥

इति षोड़शः खण्डः ॥ १६

सप्तदशः खण्डः।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाᳫ् रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरीक्षादादित्यं दिवः ॥ ३४७ ॥ १ ॥ स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्, तासां तप्यमानानाᳫ् रसान् प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूᳫ्षि सामान्यादित्यात् ॥ ३४८ ॥ २ ॥ स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजूर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३४९ ॥ ३ ॥ तद्यदृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टᳫ् सन्दधाति ॥ ३५० ॥ ४ ॥ अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात्। यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्य्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टᳫ्सन्दधाति ॥ ३५१ ॥ ५ ॥ अथ यदि सामतो रिष्येत् स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्, साम्नामेव

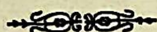
तद्रसेन साम्नां वीर्य्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति
॥ ३५२ ॥ ६ ॥ तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ सन्दध्यात् सुवर्णेन
रजतꣳ रजतेन त्रपु, त्रपुणा सीसꣳ सीसेन लोहं लोहेन दारु,
दारु चर्म्मणा ॥ ३५३ ॥ ७ ॥ एवमेषां लोकानामासां देवता-
नामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्य्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति भेष-
जकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥ ३५४ ॥ ८ ॥
एष ह वा उदक् प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳ
ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्त्तते तत्तद्गच्छति ॥
३५५ ॥ ९ ॥ मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक् कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध
वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति, तस्मादेवं
विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ ३५६ ॥ १० ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥ १० ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥



पञ्चमोऽध्यायः ।



प्रथमः खण्डः ।

यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद, ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ ३५७ ॥ १ ॥ यो ह वै वसिष्ठं वेद, वसिष्ठो ह स्वानां भवति। वाग् वाव वसिष्ठः ॥ ३५८ ॥ २। यो ह वै प्रतिष्ठां वेद, प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च, चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३५९ ॥ ३ ॥ यो ह वै सम्पदं वेद, सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च, श्रोत्रं वाव सम्पत् ॥ ३६० ॥ ४ ॥ यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति, मनो ह वा आयतनम् ॥ ३६१ ॥ ५ ॥ अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳश्रेयानस्म्यहꣳश्रेयानस्मीति ॥ ३६२ ॥ ६ ॥ ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति। तान् होवाच - यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत, स वः श्रेष्ठ इति॥ ३६३ ॥ ७॥ सा ह वागुच्चक्राम, स संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच—कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति। यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति ; प्रविवेश ह वाक् ॥ ३६४ ॥ ८ ॥ चक्षुर्होच्चक्राम, तत् संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति। यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्त प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति

प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ३६५ ॥ ९ ॥ श्रोत्र ँ होच्चक्राम; तत् संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति । यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति; प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ ३६६ ॥ १० ॥ मनो होच्चक्राम, तत् संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति । यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति ; प्रविवेश ह मनः ॥ ३६७ ॥ ११ ॥ अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन् स यथा सुहयः पड्वीश-शङ्कून् सङ्खिदेत् एवमितरान् प्राणान् समखिदत् त ँ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि, त्वं नः श्रेष्ठोऽसि, मोत्क्रमीरिति ॥ ३६८ ॥ १२ ॥ अथ हैनं वागुवाच—यदहं वसिष्ठोऽस्मि, त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति । अथ हैनं चक्षुरुवाच—यदहं प्रतिष्ठास्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ॥ ३६९ ॥ १३ । अथ हैन ँ श्रोत्रमुवाच—यदह ँ सम्पदस्मि, त्वं तत्सम्पदसीति । अथ हैनं मन उवाच—यदहमायतनमस्मि, त्वं तदायतनमसीति ॥ ३७० ॥ १४ ॥ न वै वाचो न चक्षू ँ षि न श्रोत्राणि न मना ँ सीत्याचक्षते, प्राणा इत्येवाचक्षते, प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ ३७१ ॥ १५ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीयः खण्डः ।

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति, यत्किञ्चिदिदम् आ श्वभ्य

आ शकुनिभ्य इति होचुः। तद्वा एतदनस्य न्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षम्, न ह वा एवं विदि किञ्चनानन्नं भवतीति ॥ ३७२ ॥ १ ॥ स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः, तस्माद्वा एतद्-शिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति, लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ ३७३ ॥ २ ॥ तद्धैतत् सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३७४ ३ ॥ अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्य-ग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ३७४ ॥ ४ वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्, प्रतिष्ठायै स्वाहेत्या-ग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्, सम्पदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्, आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ३७६ ॥ ५ ॥ अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः, स मा ज्यैष्ठꣳ श्रैष्ठꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्व ऽमेवेदꣳ सर्वमसानीति ॥ ३७७ ॥ ६ ॥ अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति—तत् सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजन-मित्याचामति, श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति, तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति, निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्म्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः, स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्म्मेति विद्यात् ॥ ३७८ ॥ ७ ॥

तदेष श्लोक :—

यदा कर्म्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने
तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥ ३७९ ॥ ८

इति द्वितीयः खण्डः । २

तृतीयः खण्डः ।

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳ समितिमेयाय ; तꣳ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच—कुमारानु त्वाशिषत् पितेति, अनु हि भगव इति ॥ ३८० ॥ १ ॥ वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ? न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्त्तन्त ३ इति ? न भगव इति । वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्त्तना ३ इति ? न भगव इति ॥ ३८१ ॥ २ ॥ वेत्थ यथासौ लोको न सम्पूर्य्यत ३ इति ? न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति ? नैव भगव इति ॥ ३८२ ॥ ३ ॥ अथानु किमनुशिष्टो-ऽवोचथाः, यो हीमानि न विद्यात् कथꣳ सोऽनुशिष्टो ब्रवीतेति । स हायस्तः पितुरर्द्धमेयाय, तꣳ होवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति ॥ ३८३ ॥ ४ ॥ पञ्च मा राजन्य-बन्धुः प्रश्नान प्राक्षीत् ; तेषां नैकञ्च नाशकं विवक्तुमिति । स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन वेद ; यद्यहमिमान वेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ ३८४ ॥ ५ ॥ स ह गौतमो राज्ञोऽर्द्धमेयाय, तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार, स ह प्रातः

समाग उद्देयाय, तꣳ होवाच मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तवैव राजन् मानुषं वित्तम्, यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति। स ह कृच्छ्री बभूव ॥ ३८५ ॥ ६ ॥ तꣳ ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार; तꣳ होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति; तस्मादु सर्वेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति; तस्मै होवाच ॥ ३८६ ॥ ७ ॥

इति तृतीयः खण्डः । ३

चतुर्थः खण्डः ।

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद् रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ ३८७ ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥ ३८८ ॥ २ ॥

इति चतुर्थः खण्डः । ४

पञ्चमः खण्डः ।

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ ३८९ ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति, तस्या आहुतेर्वर्षꣳ सम्भवति ॥ ३९० ॥ २ ॥

इति पञ्चमः खण्डः । ५

षष्ठः खण्डः ।

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ ३९१ ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति, तस्या आहुतेरन्न ᳪ᳭ सम्भवति ॥ ३९२ ॥ २

इति षष्ठः खण्डः । ६

सप्तमः खण्डः ।

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित् प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ ३९३ ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुतेरेतः सम्भवति ॥ ३९४ ॥ २

इति सप्तमः खण्डः । ७

अष्टमः खण्डः ।

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद् यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ ३९५ ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति; तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥ ३९६ ॥ २ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

नवमः खण्डः ।

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति, स उल्वा-

वृतौं गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥ ३९७ ॥ १ ॥ स जातो यावदायुषं जीवति, तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति, यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति ॥ ३९८ ॥ २ ॥

इति नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

दशमः खण्डः ।

तद्य इत्थं विदुः, ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षड् दङ्ङेति मासाꣳस्तान् ॥ ३९९ ॥ १ ॥ मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनं ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ ४०० ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते, ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान् षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान् नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ४०१ ॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४०२ ॥ ४ ॥ तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥ ४०३ ॥ ५ ॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते, अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्, यो यो ह्यन्नमत्ति यो यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ४०४ ॥ ६ ॥ तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूय चरणा

अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ४०५ ॥ ७ ॥ अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीय ᳫ स्थानं, तेनासौ लोको न सम्पूर्यते, तस्माज्जुगुप्सेत । तदेष श्लोकः—॥ ४०६ ॥ ८ ॥ स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिब ᳫ श्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः, पञ्चमश्चाचर ᳫ स्तैरिति ॥ ४०७ ॥ ९ ॥ अथ ह य एतानेव पञ्चाग्नीन वेद, न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते, शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति, य एवं वेद य एवं वेद ॥ ४०८ ॥ १० ॥

इति दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एकादशः खण्डः ।

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमा ᳫ साञ्चक्रुः—को न आत्मा, किं ब्रह्मेति ॥४०९॥१॥ ते ह सम्पादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति त ᳫ हन्ताभ्यागच्छामेति; त ᳫ हाभ्याजग्मुः ॥ ४१० ॥ २ ॥ स ह सम्पादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ४११ ॥ ३ ॥ तान् होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति त ᳫ हन्ताभ्यागच्छामेति त ᳫ हाभ्याजग्मुः ॥४१२॥ ४ ॥ तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः

पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार; स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच—न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न मद्यपः । नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः । यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि; यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि, तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि, वसन्तु भगवन्त इति ॥४१३॥५॥ ते होचुर्येन हैवार्थेनं पुरुषश्चरेत्त ँ हैव वदेत् आत्मान मेवेमं वैश्वानर ँ सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ४१४ ॥ ६ ॥ तान् होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति; ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे; तान् हानुपानीयैवैतदुवाच ॥ ४१५ ॥ ७ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

——

द्वादशः खण्डः ।

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से इति; दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजो आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ ४१६ ॥ १ ॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्च्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्द्धात्वेष आत्मन इति होवाच, मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद् यन्मां नागमिष्य इति ॥ ४१७ ॥ २ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

——

त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं—प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति । आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप

आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से; तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले
दृश्यते ॥ ४१८ ॥ १ ॥ प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं
पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एत-
मेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभवि-
ष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥ ४१९ ॥ २

इति त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः खण्डः ।

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम्—वैयाघ्रपद्य, कं त्वमात्मानमुपास्स
इति । वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वा-
नरो यं त्वमात्मानमुपास्से ; तस्मात् त्वां पृथग् वलय आयन्ति पृथग्-
रथश्रेण्योऽनुयन्ति ॥ ४२० ॥ १ ॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं
पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते, प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच, प्राणस्त उदक्रमिष्यद् यन्मां
नागमिष्य इति ॥ ४२१ ॥ २ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः खण्डः ।

अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्य; कं त्वमात्मानमुपास्स इत्या-
काशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं
त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च
॥ ४२२ ॥१॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य

ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच, संदेहस्ते व्यशीर्य्यद् यन्मां नागमिष्य इति ॥ ४२३॥ २ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

षोडशः खण्डः।

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विम्, वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्से इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात्त्वꣳ रयिमान् पुष्टिमानसि ॥ ४२४ ॥ १ ॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। वस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच। वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद् यन्मां नागमिष्य इति ॥ ४२५ ॥ २ ॥

इति षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

सप्तदशः खण्डः।

अथ होवाचोद्दालकमारुणिम्, गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति, पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ ४२६ ॥ १ ॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच, पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ ४२७ ॥ २ ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अष्टादशः खण्डः ।

तान् होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वा-
ꣳसोऽन्नमत्थ, यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वा-
नरमुपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति
॥ ४२८ ॥ १ ॥ तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा-
श्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः
पृथिव्येव पादौ उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वा-
हार्य्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ ४२९ ॥ २ ॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

ऊनविंशः खण्डः ।

तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमामाहुतिं जुहु-
यात्, तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहेति, प्राणस्तृप्यति ॥४३०॥ १॥ प्राणे
तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृ-
प्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति
तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्च्च-
सेनेति ॥ ४३१ ॥ २

इति ऊनविंशः खण्डः । १९

विंशः खण्डः ।

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति, व्यान-
स्तृप्यति ॥ ४३२ ॥ १ ॥ व्याने तृप्यति, श्रोत्रं तृप्यति, श्रोत्रे

तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति, चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति, दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति, तत्तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ ४३३ ॥ २

इति विंशः खण्डः ॥ २० ॥

एकविंशः खण्डः।

अथ यां तृतीयां जुहुयात् तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ ४३४ ॥ १ ॥ अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ ४३५ ॥ २

इति एकविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः खण्डः॥

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात् समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ ४३६ ॥ १ ॥ समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्ज्जन्यस्तृप्यति पर्ज्जन्ये तृप्यति विद्युत् तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्ज्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥४३७॥२

इति द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः खण्डः ।

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति
॥ ४३८ ॥ १ ॥ उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायु-
स्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किञ्च वायु-
श्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशु-
भिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ ४३९ ॥ २

त्रयोविंशः खण्डः । २३

चतुर्विंशः खण्डः ।

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि
जुहुयात् तादृक् तत् स्यात् ॥ ४४० ॥ १ ॥ अथ य एतदेवं विद्वा-
नग्निहोत्रं जुहोति, तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु चात्मसु
हुतं भवति ॥ ४४१ ॥ २ ॥ तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳ
हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
॥ ४४२ ॥ ३ ॥ तस्मादु हैवंविद् यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं
प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳ स्यादिति । तदेषः श्लोकः
॥ ४४३ ॥ ४ ॥ यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवꣳ
सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥४४४॥५

इति चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४

॥ इति पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

—•०•—

प्रथमः खण्डः ।

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस, त ँ ह पितोवाच श्वेतकेतो, वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्यास्मत् कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ ४४५ ॥ १ ॥ स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्वि ँ शतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय त ँ ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानो स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥ ४४६ ॥ २ ॥ येनाश्रुत ँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ४४७ ॥ ३ ॥ यथा सोम्यैकेन मृत् पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात ँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४४८ ॥ ४ ॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात ँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ४४९ ॥ ५ ॥ यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञात ँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यम्, एव ँ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ४५० ॥ ६ ॥ न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति, भगवा ँस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४५१ ॥ ७ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १

——

सदेव साम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितोयम्। तद्धैकआहुरस-
देवेदमग्र आसोदेकमेवाद्वितायम्, तस्मादसतः सज्जायत ॥४५२॥१॥
कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति।
सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसोत् एकमेवाद्वितायम्। ४५३। २॥ त-
दैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत, तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां
प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क च शोचति स्वेदते वा
पुरुषस्तेजस एव तदध्यापोजायते ॥४५४॥३॥ ता आप ऐक्षन्त बह्वयोः
स्याम प्रजायेमहीति, ता अन्नमसृजन्त; तस्माद् यत्र क च वर्षति तदेव
भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४५५ ॥ ४ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २

तृतोयः खण्डः।

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवज-
मुद्भिज्जमिति ॥ ४५६ ॥ १ ॥ सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो
देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम-रूप व्याकरवाणीति
॥ ४५७ ॥ २ ॥ तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति; सेयं
देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जोवेनात्मनानुप्रविश्य नाम-रूपे
व्याकरोत् ॥ ४५८ ॥ ३ ॥ तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्
यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति, तन्मे
वजानीहीति ॥ ४५९ ॥ ४ ॥

इति तृतोयः खण्डः ॥ ३ ॥

चतुर्थः खण्डः।

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपम्, यच्छुक्लं तदपाम्, यत् कृष्णं तदन्नस्य; अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४६० ॥ १ ॥ यदादित्यस्य रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ६१ ॥ २ ॥ यच्चन्द्रमसो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ६२ ॥ ३ ॥ यद् विद्युतो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्यापागाद् विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४६३ ॥ ४ ॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रियाः—न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥४६४॥ ५॥ यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः, यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः ॥ ४६५ ॥ ६ ॥ यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳ समास इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति, तन्मे विजानीहीति ॥ ४६६ ॥ ७ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

पञ्चमः खण्डः

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मा꣡ꣳसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ ४६७ ॥ १ ॥ आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ ४६८ ॥ २ ॥ तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते—तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ४६९ ॥ ३ ॥ अन्नमय꣡ꣳ हि सोम्य, मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयो वागिति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच ॥४७०॥४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः । ५

षष्ठः खण्डः ।

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा, स ऊर्द्ध्वः समुदीषति, तत् सर्पिर्भवति ॥ ४७१ ॥ १ ॥ एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा, स ऊर्द्ध्वः समुदीषति, तन्मनो भवति ॥४७२॥२॥ अपा꣡ꣳ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा, स ऊर्द्ध्वः समुदीषति, स प्राणो भवति ॥ ४७३ ॥ ३ ॥ तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा, स ऊर्द्ध्वः समुदीषति, सा वाग्भवति ॥ ४७४ ॥ । अन्नमय꣡ꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयो वागिति, भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच ॥४७५।५॥

इति षष्ठः खण्डः ॥ ६

सप्तमः खण्डः।

षोड़शकलः सोम्य पुरुषः, पञ्चदशाहानि माशीः; काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यतइति ॥ ४७६ ॥ १ ॥ स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इति, ऋचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति, स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ ४७७ ॥ २ ॥ तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहित-स्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेत्, एवꣳ सोम्य ते षोड़शानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान 'अथ मे विज्ञास्यसीति ॥ ४७८ ॥ ३॥ स हाशाथ हैनमुपससाद, तꣳ ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वꣳ ह प्रतिपेदे ॥ ४७९ ॥ ४ ॥ तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं, तं तृणैरुपसमाधाय प्रज्वालयेत्। तेन ततोपि बहु दहेत् ॥ ४८० ॥ ५ ॥ एवꣳ सोम्य ते षोड़शानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्, साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली, तयैतर्हि वेदाननुभवस्यान्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति। तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥४८१॥६॥

इति सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अष्टमः खण्डः।

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति, यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा सम्पन्नो

भवति—स्वमपीतो भवति, तस्मादेन ँ स्वपतीत्याचक्षते—स्व ँ ह्यपीतो भवति ॥ ४८२ ॥ १ ॥ स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राण मेवोपश्रयते; प्राणबन्धन ँ हि सोम्य मन इति ॥ ४८३ ॥ २ ॥ अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत् पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय; इत्येवं तदप आचक्षते, अशनायेति तत्रै तच्छुङ्गमुत्पतित ँ सोम्य विजानीहि नेदममूल ँ भविष्यतीति ॥ ४८४ ॥ ३ ॥ तस्य क्व मूल ँ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत् प्रतिष्ठाः ॥४८५॥४॥ अथ यत्र तत् पुरुषः पिपासति नाम; तेज एव तत् पीतं नयते; तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति, तत्रै तदेव शुङ्गमुत्पतित ँ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३८६ ॥ ५ ॥ तस्य क्व मूल ँ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति, तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवातायाम् ॥ ४८७ ॥ ६ ॥ स यः एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम्, तत् सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि

श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच ॥ ४८८ ॥ ७ ॥

इति अष्टमः खण्डः ।

नवमः खण्डः ।

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान् समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति ॥ ४८९ ॥ १ ॥ ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥४९०। २॥ त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा बराहो व कीटोवा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति, तदा भवन्ति ॥४९१ ।३॥ स य एषोऽणिमोतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति, भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच ॥ ४९२ । ४ ॥

इति नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

दशमः खण्डः ।

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात् प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात् प्रतीच्यस्ताः समुद्र एव भवन्ति, ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ ४९३ ॥ १ ॥ एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति, त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा

यद् यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥ ४९४ ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं, तत् सत्यꣳ स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४९५ ॥ ३ ॥

इति दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एकादशः खण्डः।

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद् योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्; स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ ४९६ ॥ १ ॥ अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयं जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥ ४९७ ॥ २ ॥ एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच, जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४९८ ॥ ३ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

द्वादशः खण्डः।

न्यग्रोधफलमत आहरेति, इदं भगव इति, भिन्धीति, भिन्नं भग व इति, किमत्र पश्यसीति, अण्व्य इवेमा धाना भगव इति, आसामङ्गै

भिन्धीति, भिन्ना भगव इति, किमत्र पश्यसीति, न किञ्चन भगव इति ॥ ४९९ ॥ १ ॥ तᳫं होवाच यं वै साम्यैतमणिमानं न निभालयसे, एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति, श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ ५०० ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदᳫं सर्वं तत् सत्यᳫं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच ॥ ५०१ ॥ ३ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः खण्डः ।

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति, स ह तथा चकार तᳫं होवाच—यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग, तदाहरेति, तद्धावमृश्य न विवेद ॥ ५०२ ॥ १ ॥ यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति, कथमिति ? लवणमिति, मध्यादाचामेति कथमिति ? लवणमिति, अन्तादाचामेति, कथमिति ? लवणमिति। अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति, तद्ध तथा चकार, तच्छश्वत् संवर्त्तते, तᳫं होवाचात्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ ५०३ ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदᳫं सर्वं तत्सत्यᳫं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच ॥ ५०४ ॥ ३ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः खण्डः ।

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने

विसृजेत्, स यथा तत्र प्राङ्वा उदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीत अभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥५०५॥१ ।तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येत, एवमेवेहाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ; तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ॥ ५०६ ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्य मिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥ ५०७ ।, ३ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः। १४

पञ्चदशः खण्डः।

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्य्युपासते जानासि मां, जानासि मामिति, तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्, तावज्जानाति ॥ ५०८ ॥ १ ॥ अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ ५०९ ।। २ ॥स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति,
तथा सोम्येति होवाच॥५१०॥३॥

इति पञ्चदशः खण्डः। १५

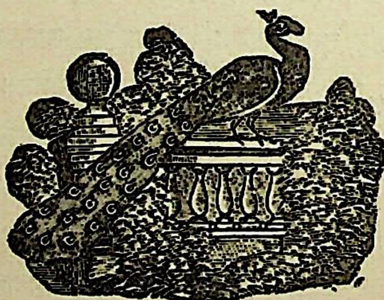
षोड़शः खण्डः।

[illegible]

परशुमस्मै तपतेति । स यदि तस्य कर्त्ता भवति, तत एवानृतमात्मानं कुरुते; सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्द्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति, स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ ५·१ ॥ १ ॥ अथ यदि तस्याकर्त्ता भवति, तत एव सत्यमात्मानं कुरुते, स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्द्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति, स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ ५१२ ॥ २ ॥ स यथा तत्र नादाह्येत ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति, तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥५१३॥३॥

इति षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥



सप्तमोऽध्यायः।

—:❀:—

प्रथमः खण्डः।

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच
यद् वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच
॥ ५१४ ॥ १ ॥ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथ-
र्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं
दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां
नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ ५१५ ॥ २ ॥
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्; श्रुतꣳ ह्येव मे भगव-
द्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति; सोऽहं भगवः शोचामि, तं मा
भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति; तꣳ होवाच यद्वै किञ्चैतद-
ध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ५१६ ॥ ३ ॥ नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः
पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या
भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्प-देवजनविद्या नामैवैतन्नामोपा
स्स्वेति ॥ ५१७ ॥ ४ ॥ स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते, यावन्नाम्नो गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते; अस्ति भगवो
नाम्नो भूय इति, नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवी-
त्विति ॥ ५१८ ॥ ५ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १

द्वितीयः खण्डः ।

वाग्वाव नाम्नो भूयसो, वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्प देवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुश्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसिच तृणवनस्पतोञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्म्मञ्चाधर्म्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधु चासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्च, यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्म्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं, नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥ ५१९ ॥ १ ॥ स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवो वाचो भूय इति, वाचो वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५२० ॥ २ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २

तृतीयः खण्डः ।

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचञ्च नाम च मनोऽनुभवति, स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते, कर्म्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छेयेत्यथेच्छते, मनो ह्यात्मा मनोहि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपा-

स्वेति ॥ ५२१ ॥ १ ॥ स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं, तत्रास्य यथा कामचारो भवति, यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते अस्ति भगवो मनसो भूय इति, मनसो वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५२२ ॥ २ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥ ३

चतुर्थः खण्डः ।

सङ्कल्पा वाव मनसो भूयान्, यदा वै सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति, नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्म्माणीति ॥ ५२३ ॥ १ ॥तानि ह वा एतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि, समक्लृप्तां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशश्च, समकल्पन्तामश्च तेजश्च; तेषां संक्लृप्त्यै वर्षꣳसङ्कल्पते, वर्षस्य सङ्क्लृप्त्या अन्नꣳ सङ्कल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः सङ्कल्पन्ते, प्राणानाꣳ संक्लृप्त्यैमन्त्राः सङ्कल्पन्ते, मन्त्राणाꣳसङ्क्लृप्त्यै कर्म्माणि सङ्कल्पन्ते; कर्म्मणाꣳसक्लृप्त्यै लोकः सङ्कल्पते, लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वꣳ सङ्कल्पते; स एषः सङ्कल्पः, सङ्कल्पमुपास्वेति ॥ ५२४ ॥ २ ॥ स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते, क्लृप्तान् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावत् सङ्कल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवः सङ्कल्पाद्भूय इति, सङ्कल्पाद् वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५२५ ॥ ३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४

पञ्चमः खण्डः।

चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्म्माणि॥ ५२६॥ १॥ तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि। तस्माद् यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान् नेत्थमचित्तः स्यादिति। अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते; चित्तꣳ ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति॥ ५२७॥ २॥ स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते, चितान् वै स लोकान् ध्रुवान्, ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति, यावच्चित्तस्य गतम्, तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति, चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥ ५२८॥ ३॥

इति पञ्चमः खण्डः॥ ५

षष्ठः खण्डः।

ध्यानं वाव चित्ताद् भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः; तस्माद् य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्ते अथ ये प्रभवो ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्ति; ध्यानमुपास्स्वेति॥ ५२९॥ १॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद् ध्यानस्य गतं, तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति, ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५३० ॥ २ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

सप्तमः खण्डः ।

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेद ँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ँ सर्प—देवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवा ँ श्चमनुष्या ँ श्च वया ँ सि च तृण—वनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीट पतङ्ग पिपीलकं धर्म्मञ्चाधर्म्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधु चासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्चान्नञ्च रसं चेमं च लाकममुञ्च विज्ञानेनैव विजानाति; विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ ५३१ ॥ १ ॥ स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिध्यति; यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो विज्ञानाद्भूयं इति, विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्त ति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५३२ ॥ २ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अष्टमः खण्डः।

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते, स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति विज्ञाता भवति; बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देव-मनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्ग पिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥ ५३३ ॥ १ ॥ स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते अस्ति भगवो बलाद्भूय इति; बलाद्वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५३४ । २ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

नवमः खण्डः।

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद् यद्यपि दश रात्रीर्नाश्नीयाद् यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवति। अथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ ५३५ ॥ १ ॥ स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इति। अन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५३६ ॥ २ ॥

इति नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

दशमः खण्डः ।

आपो वा अन्नाद्भूयस्तस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भवष्यतीति, अथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भवष्यतीति; आप एवेमा मूर्त्ताः—येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद्द्यौर्यत् पर्वता यद्देव-मनुष्या यत पशवश्च वयाꣳसिच तृण-वनस्पतयः श्वापदान्या कीट पतङ्गपिपीलकम् आप एवेमा मूर्त्ताः अप उपास्स्वेति ॥ ५३७ ॥ १ ॥ स योऽपो ब्रह्मेत्यु-पास्त आप्नोति सर्वान् कामाꣳ स्तृप्तिमान् भवति, यावदपां गतं, तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवोऽ-द्भ्यो भूय इति । अद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवी-त्विति ॥ ५३८ ॥ २ ॥

इति दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एकादशः खण्डः ।

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति, तदा-हुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत् पूर्वं दर्शयित्वा-ऽथापः सृजते; तदेतदूर्द्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति, तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति, तेज एव तत् पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते; तेज उपास्स्वेति ॥ ५३९ ॥ १ ॥ स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते, तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कान-भिसिध्यति, यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यस्तेजो

ब्रह्मेत्युपास्ते अस्ति भगवस्तेजसो भूय इति । तेजसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५४० ॥ २ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

द्वादशः खण्डः ।

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायते, आकाशमुपास्स्वेति ॥ ५४१ ॥ २ ॥ स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति, यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगव आकाशाद् भूय इति । आकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५४२ ॥ २ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः खण्डः ।

स्मरो वावाकाशाद् भूयस्तस्माद् यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्, यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन्, स्मरेण वै पुत्रान् विजानाति स्मरेण पशून्; स्मरमुपास्स्वेति ॥ ५४३ ॥ १ ॥ स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवः स्मराद्भूय इति । स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५४४ ॥ २ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः खण्डः ।

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्म्माणि कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छते; आशामुपास्स्वेति ॥ ५४५ ॥ १ ॥ स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते आशयास्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा ह्यस्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगव आशाया भूय इति । आशाया वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ५४६ ॥ २ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥ १४

पञ्चदशः खण्डः ।

प्राणो वा आशाया भूयान्; यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वँ समर्पितम्; प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्य्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥५४७॥१॥ स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्य्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक् त्वास्त्वित्यैवैनमाहुः—पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्य्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ ५४८ ॥ २ ॥ अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषन्दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति—न मातृहासीति, न भ्रातृहासीति, न स्वसृहासीति, नाचार्य्यहासीति, न ब्राह्मणहासीति ॥ ५४९ ॥ ३ ॥ प्राणोह्येवै-

तानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति, तत् चेद्ब्रूयुरति वाद्यसीत्यतिवाद्यसीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥ ५५० ॥ ४ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥ १५

षोडशः खण्डः।

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनाति वदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति। सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ ५५१ ॥ १ ॥

इति षोड़शः खण्डः ॥ १६

सप्तदशः खण्डः।

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति, नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति, विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति, विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ ५५२ ॥ १ ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥ १७

अष्टादशः खण्डः।

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति, नामत्वा विजानाति, मत्वैव विजानाति, मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ ५५३ ॥ १ ॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥ १८

ऊनविंशः खण्डः ।

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते, नाश्रद्दधन् मनुते, श्रद्दधदेव मनुते, श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति, श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥५५४॥१

इति ऊनविंशः खण्डः ॥ १९

विंशः खंडः ।

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठं श्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति । निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति, निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ ५५५ ॥ १ ॥

इति विंशः खण्डः २०

एकविंशः खण्डः ।

यदा व करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वन निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ ५५६ ॥ १ ॥

इति एकविंशः खण्डः ॥ २१

द्वाविंशः खण्डः ।

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ ५५७ ॥ १ ॥

इति द्वाविंदशः खण्डः ॥ २२

त्रयोविंशः खण्डः ।

यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥५५८॥१

इति त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३

चतुर्विंशः खण्डः ।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्प तन्मर्त्त्यꣳ स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति, स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति ॥ ५५९ ॥ १ ॥ गो अश्वमिह महिमात्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्य्यं क्षेत्राण्यायतनानीति, नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ ५६० ॥ २ ॥

इति चतुर्विंशः खण्डः ॥४२॥

पंचविंशः खण्डः ।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमिति । अथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ ५६१ ॥ १ ॥ अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तदात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तर आत्मैवेदꣳ सर्वमिति सवा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य

सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ ५६२ ॥ २ ॥

इति पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

षड्विंशः खण्डः।

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एव मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मात आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान मात्मश्चित्तमात्मतो बलमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्म्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति ॥ ५६३ ॥ १ ॥ तदेष श्लोकः :—

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति।

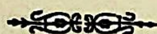
स एकधा भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा
सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः
शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिः।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार स्तꣳस्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते ॥ ५६४ ॥ २ ॥

इति षड्विंशः खण्डः ॥ २६ ॥

सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।



प्रथमः खण्डः ।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन यदन्तरस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ५६५ ॥ १ ॥ तञ्चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ ५६५ ॥ २ ॥ यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥ ५६७ ॥ ३ ॥ तञ्चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्म-पुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः, यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ५६८ ॥ ४ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्य्यति न वधेनास्य हन्यते एतत् सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता ; एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य सङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति, यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५६९ ॥ ५ ॥ तद्यथेह कर्म्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते । तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳ स्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो

भवति । अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳ स्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ५७० ॥ १ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीयः खण्डः ।

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७१ ॥ १ ॥ अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७२ ॥ २ ॥ अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७३ ॥ ३ ॥ अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति, तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७४ ॥ ४ ॥ अथ यदि सखिलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति, तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७५ ॥ ५ ॥ अथ यदि गन्ध-माल्य लोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्ध-माल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७६ ॥ ६ ॥ अथ यद्यन्न-पान लोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्न-पान लोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७७ ॥ ७ ॥ अथ यदि गीत-वादित्रलोक कामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीत-वादित्र लोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५७८ ॥ ८ ॥ अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति, तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते

।।५७९ ।। ९।। यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयते ।।५८०। १०।।

इति द्वितीयः खण्डः ।। २

तृतीयः खण्डः ।

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाᳬ सत्यानाᳬ सतामनृतमपिधानम्, यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ।। ५८१ ।। १ ।। अथ येचास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः । तद् यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्य्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ।। ५८२ ।। २ ।। स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तᳬ हृदयमिति तस्माद्धृदयम्, अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गंलोकमेति ।। ५८३ ।। ३ अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति, तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ।। ५८४ ।। ४ ।। तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति, तद्यत् सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति, यदनेनोभे यच्छति तस्माद् यमहरहर्वा एवं वित् स्वर्गं लोकमेति ।। ५८५ ।। ५ ।।

इति तृतीयः खण्डः । ३

चतुर्थः खण्डः

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय, नैत ँ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृत ँ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥५८६॥१॥ तस्माद्वा एत ँ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति, विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति, तस्माद्वा एत ँ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते, सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्म लोकः ॥ ५८७ ॥ २ ॥ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा ँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥५८८॥३॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४

पञ्चमः खण्डः ।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तत, ब्रह्मचर्य्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते, अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तत्, ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥ २८९ ॥ १ ॥ अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तत्, ब्रह्मचर्य्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तत् ब्रह्मचर्य्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥ ५९० ॥ २ ॥ अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तत; एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तत्, अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीय स्यामितो दिवि; तदैरं मदीय ँ सरस्तदश्वत्थः सोम सवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमित ँ

हिरण्मयम् ॥ ५९१ ॥ ३ ॥ तत्र एवैतावरं च ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां ँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ५९२ ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥ ५

षष्ठः खण्डः ।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति । असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ ५९३ ॥ १ ॥ तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥५९४॥ २॥ तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति, तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ५९५ ॥ ३ ॥ अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ५९६ ॥ ४ ॥ अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते, स ओमिति वा होद्वा मीयते; स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५९७ ॥ ५ ॥ तदेष श्लोकः—

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्व मेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ५९८ ॥ ६ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥ ६

सप्तमः खण्डः ।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः; स सर्वा ँ्श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ्श्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ ५९९ ॥ १ ॥ तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे, ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वा ँ्श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ्श्च कामानिति । इन्द्रा हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्, तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ ६०० ॥ २ तौ ह द्वात्रि ँ्शतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति, तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँ्श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ्श्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावावास्तमिति ॥ ६०१ ॥ ३ ॥ तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ६०२ ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥ ७

अष्टमः खण्डः ।

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मानो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति । तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति, तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ ६०३ ॥ १ ॥ तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति । तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥६०४॥२॥ तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृताविस्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति, तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ६०५ ॥ ३ ॥ तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा, ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्त हृदय एवं विरोचनोऽसुरान् जगाम, तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमञ्चामुञ्चेति ॥ ६०६ ॥ ४ ॥ तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्धधानमयजमानमाहुरासुरो वतेत्यसुराणाᳫं ह्येषोपनिषत् प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति सᳫं स्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ६०७ ॥ ५ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥ ८

नवमः खण्डः ।

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श—यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः, एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति, नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥६०८॥१॥ स समित्पाणिः पुनरेयाय, तꣳ ह प्रजापतिरुवाच—मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्द्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति । स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ ६०९ ॥ २ ॥ एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतन्त्वेव ते भूयोऽनु व्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति ॥ स हा पराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ६१० ॥ ३ ॥

इति नवमः खण्डः ॥ ९

दशमः खण्डः ।

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । स ह शान्त हृदयः प्रवव्राज, स हा प्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श—तद् यद्यपीदꣳ शरीरमन्धं भवत्यनन्धःस भवति, यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ६११ ॥ १ ॥ न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव, नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ ६१२ ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त ँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन् यच्छान्त हृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति। स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धःस भवति, यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥६१३॥३॥ न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवेनं विच्छादयन्ती वाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव, नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतन्त्वेव ते भूयोऽनु व्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रि ँ शतं वर्षाणीति। स हापराणि द्वात्रि ँ शतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ६१४ ॥ ४ ॥

इति दशमः खण्डः ॥ १०

एकादशः खण्डः।

तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। स ह शान्त हृदयः प्रवव्राज, स हा प्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श—नाहं खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहस्मीति; नो एवमानि भूतानि, विनाश मेवापीतो भवति; नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ ६१५ ॥ १ ॥ स समित्पाणिः पुनरेयाय त ँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति। स होवाच नाहं खल्वयं भगव एव ँ सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहस्मीति नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवापीतो भवति, नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ ६१६ ॥ २ ॥ एवमेवैष मघवन्निति होवाच एतन्त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति। स हापराणि पञ्च

वर्षाण्युवास, तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत्तद् यद् हुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास, तस्मै होवाच ॥६१७॥३॥

इति एकादशः खण्डः ॥ ११

द्वादशः खण्डः ।

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्, आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां, न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ ६१८ ॥ १ ॥ अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि, तद् यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ ६१९ ॥ २ ॥ एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूप सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते; स उत्तमपुरुषः । स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीड़न् रममाणः स्त्रीभिर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ६२० ॥ ३ ॥ अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभि व्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ६२१ ॥ ४ ॥ अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः, स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते, य एते ब्रह्म लोके ॥ ६२२ ॥ ५ ॥ तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते,

तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः, स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६२३ ॥ ६

इति द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः खण्डः।

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥ ६२४ ॥ १ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः खण्डः।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतꣳस आत्मा। प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि, स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्ꣳ श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम् ॥ ६२५ ॥ १ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः खण्डः।

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः, आचार्य्य कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभि-

समावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाधायमधीयानो धार्म्मिकान् विदध-दात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिꣳ सन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते ॥ ५२६ ॥ १ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

इति सामवेदीय छान्दोग्योपनिषत् सम्पूर्णा ।

ॐ तत्सत्



कलकत्ता, १५९ बी० मछुआबाजार ष्ट्रीट,
इण्डियन नेशनल प्रेसमें
अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी द्वारा मुद्रित।